

वर्ष-१०

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी

मासद्वयी अन्तर्राष्ट्रीय शोध समग्र पत्रिका

अंक-१

जनवरी-फरवरी २०१६



ISSN 0973-9777

GISI Impact Factor 2.4620

वर्ष-१० अंक-१

जनवरी-फरवरी २०१६



एम.पी.ए.एस.वी.ओ.
द्वारा आन्वीक्षिकी सदस्य
सहसंयोजन से प्रकाशित

आन्वीक्षिकी

भारतीय शोध पत्रिका

मासद्वयी अन्तर्राष्ट्रीय शोध समग्र पत्रिका

प्रधान सम्पादिका

डॉ. मनीषा शुक्ला, maneeshashukla76@rediffmail.com

पुनर्निरीक्षक संपादक

प्रो. विभा रानी दुबे, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, उ.प्र., भारत

डॉ. नागेन्द्र नारायण मिश्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद, उ.प्र., भारत

प्रो. उमेश चंद्र दुबे, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, उ.प्र., भारत

सम्पादक

डॉ. महेन्द्र शुक्ल, डॉ. अंशुमाला मिश्र

सम्पादक मण्डल

डॉ. प्रमोद आनंद तिवारी, डॉ. प्रमोद यादव, डॉ. सुजीत कुमार सिंह, डॉ. अर्चना शर्मा, डॉ. आभा रानी, डॉ. विकास कुमार सिंह, डॉ. सच्चिदानंद द्विवेदी, डॉ. शरदेंदु बाली, डॉ. डी. पी. सिंह, डॉ. गीता जोशी, डॉ. रूपाली जैन, डॉ. किरन कुमारी, डॉ. मधुलिका, डॉ. नीलू कुमारी, डॉ. मनीषा आमटे, डॉ. सिद्धार्थ पाण्डेय, डॉ. मनोज कुमार राय, दिनेश मीणा, गुंजन, रमेश चन्द्र, शंकर, पायल, डॉ. ममता अग्रवाल, सिद्धनाथ पाण्डेय, प्रो. अंजली श्रीवास्तव, डॉ. हेमराज, डॉ. नमिता जैसल, प्रदीप कुमार भिमटे, डॉ. निशा यादव

अन्तर्राष्ट्रीय सलाहकार मण्डल

रेव डोडामगोडा सुमनासार (श्रीलंका), वेन केन्डागेले सुमनारांसी थेरो (श्रीलंका), रेव टी धम्मारतना (श्रीलंका),

पी.क्रिराची सोडामा (श्रीलंका), फ्रा च्युतिदेश सैन्सोम्बट (बैंकाक, थाईलैंड), फ्रा बूनसमस्त्रिथा (थाईलैंड), डॉ. सीताराम बहादुर थापा (नेपाल), मोहम्मद सौरजाई (जाबोल, ईरान), माजिद करीमजादेह (ईराक), डॉ. अहमद रेजा केर्खाया फरजानेह (जाहेडान, ईरान),

मोहम्मद जारेई (जाहेडान, ईरान), मोहम्मद मोजटाबा केयाहफरजानेह (जाहेडान, ईरान),

डॉ. होसेन जेनाबदी (सिस्तान एवं बलूचिस्तान, ईरान), मोहम्मद जावेद केयाह फरजानेह (जाबोल, ईरान)

प्रबन्धक

महेश्वर शुक्ल, maheshwar.shukla@rediffmail.com

सारांश एवं सूचीपत्र

मोतीलाल बनारसीदास सूचीपत्र वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास सूचीपत्र दिल्ली, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका सूचीपत्र वाराणसी, सेन्ट्रल न्यूज एजेंसी सूचीपत्र दिल्ली, डी.के.पब्लिकेशन सूचीपत्र दिल्ली, नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस कम्यूनिकेशन एण्ड इन्फारमेशन रिसोर्स सूचीपत्र दिल्ली, नोएडा कॉलेज ऑफ फिजिकल एजुकेशन सूचीपत्र गौतमबुद्ध नगर

पाठकों से

आन्वीक्षिकी, भारतीय शोध पत्रिका प्रत्येक दो माह (जनवरी, मार्च, मई, जुलाई, सितम्बर एवं नवम्बर) पर एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण वाराणसी उ.प्र. भारत द्वारा प्रकाशित की जाती है। एक वर्ष में आन्वीक्षिकी, भारतीय शोध पत्रिका 6 भाग हिन्दी एवं 6 भाग अंग्रेजी एवं 3 अतिरिक्तांकों के भाग में प्रकाशित की जाती है। डॉक खर्च दर के सम्बन्ध में जानकारी हेतु सम्पर्क करें।

वार्षिक पाठक मूल्य दर

संस्थागत एवं व्यक्तिगत : भारतीय 5000+1000/-डाक शुल्क, एक प्रति 1200+100/- डाक शुल्क, वैदेशिक : 6000+डाक खर्च, एक प्रति 1000+डाक शुल्क

विज्ञापन एवं निवेदन

विज्ञापन के संदर्भ में जानकारी प्राप्त करने हेतु प्रधान सम्पादिका के पते पर संपर्क करें। आन्वीक्षिकी एक स्ववित्तपोषित पत्रिका है, अतः किसी भी प्रकार का आर्थिक सहयोग सराहनीय होगा। कृपया अपनी सहयोग राशि चेक अथवा ड्राफ्ट के माध्यम से निम्नलिखित पते पर प्रेषित करें।

सभी पत्राचार निम्नलिखित पते पर ही प्रेषित करें-

बी.32/16 ए. 2/1, गोपालकुंज, नरिया, लंका वाराणसी उ.प्र. भारत, पिन कोड 221005 मोबाइल नं. 09935784387,
टेलीफोन नं. 0542-2310539., E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com, www.anvikshikijournal.com

मिलने का समय : 3-5 दिन में (रविवार अवकाश)

पत्रिका संयोजन : महेश्वर शुक्ल, maheshwar.shukla@rediffmail.com

प्रकाशन : एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण

प्रकाशन तिथि : 1 जनवरी 2016

मनीषा प्रकाशन

(पत्राचारी संख्या V-34564, पंजीकरण संख्या 533/
2007-2008 बी.32/16 ए. 2/1, गोपालकुंज, नरिया,
लंका वाराणसी उ.प्र. भारत)



आन्वीक्षिकी

भारतीय शोध पत्रिका

वर्ष-10 अंक-1 जनवरी-2016

शोध प्रपत्र

पण्डित प्रताप नारायण मिश्र की कविताओं में समसामयिक सम्बन्ध -डॉ. सच्चिदानन्द द्विवेदी 1-4

भाषा के सिद्धहस्त कवि : तुलसीदास -डॉ. सुजीत कुमार सिंह 5-7

हिन्दी साहित्य में पर्यावरणीय चेतना का विकास -डॉ. निशा यादव 8-11

मानव-मूल्यों की वर्तमान संकटमयी स्थिति एवं शिक्षक का मूल्यों प्रति नियत कर्तव्य -डॉ. हेमराज 12-15

नारी संवेदना और मानवाधिकार का हनन : प्रेमरोग¹ -आशुतोष वर्मा एवं डॉ. संजीव गुप्ता 16-18

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक

[वस्तु एवं शिल्प वैशिष्ट्य के परिप्रेक्ष्य में] -डॉ. नमिता जैसल 19-23

वृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मज्ञान के तत्व -डॉ. मनीषा शुक्ला 24-43

राग-ध्यान -गरिमा गुप्ता एवं डॉ. अलका शर्मा 44-45

अप्रचलित रागों के प्रचार-प्रसार एवं संरक्षण की आवश्यकता -डॉ. रूपाली जैन 46-49

मानव निर्माण कर सके, ऐसी शिक्षा चाहिए -डॉ. अंजली श्रीवास्तव 50-53

ग्रेशम के नियम का पुनर्निरीक्षण -प्रो. मनोज कुमार साहू 54-56

महाविद्यालयीन छात्रों में अनुशासनहीनता, कारक व निदान -डॉ. पी.सी. घृतलहरे 57-61

विचारधारा के अर्थ व अन्त से जुड़े विवाद : एक विश्लेषण -सुबोध प्रसाद रजक 62-65

दशरथ मांझी और यथार्थवादी संघर्ष -आनंद दास एवं डॉ. अंशुमाला मिश्रा 66-67

"राष्ट्रीय एकता के लिये धातक साम्प्रदायिकता एक अध्ययन" -प्रदीप कुमार भिमटे 68-71

पण्डित प्रताप नारायण मिश्र की कविताओं में समसामयिक सम्बन्ध

डॉ. सच्चिदानन्द द्विवेदी*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित प्रताप नारायण मिश्र की कविताओं में समसामयिक सम्बन्ध शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं सच्चिदानन्द द्विवेदी घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

भारतेन्दु युगीन की कविता का काल नव-जागरण का काल था। कविता का प्रत्येक पक्ष एक नयी दिशा में पूर्ण स्फूर्ति के साथ आगे बढ़ रहा था। मिश्र जी कविता के लिए लोकहित और सरसता को प्रमुख मानते थे। भारतेन्दु युग के कवि जहाँ परंपरा के अनुकूल रचनाएँ करते थे वहीं धीरे-धीरे उनका रुझान आधुनिकता की ओर होता गया। मिश्र जी ने भी परंपरानुकूल वीर, भक्ति एवं शृंगारयुक्त रचनाएँ की। बाद में देश भक्ति, हास्य-व्यंग्य से युक्त रचनाएँ कीं। वीर भावना से युक्त रचनाएँ कम हैं।

भारतेन्दु युग के इस रचनाकार की कविता एक प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के उत्तर भारतीय समाज के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का इतिहास है। भारतेन्दु की रचनाओं से गुजरते हुए उनमें उस युग की सामाजिक तथा राजनीतिक अन्तर्वस्तु के मुखर रूप का आभास पाठक को सहज ही मिलता है। लेकिन प्रतापनारायण मिश्र की कविताओं में भी यह रूप किसी भी प्रकार भारतेन्दु से उन्नीस नहीं है। मिश्र जी की अधिकांश कविताओं में अंग्रेजी राज के दुष्प्रिणामों को काफी विस्तार से अनेक रूपों में चर्चा की गयी है। अपनी भाषा अपनी संस्कृति अपने देश तथा देश के लोगों के दीन-हीन दशा की चर्चा कविताओं में बार-बार की गयी है। यहाँ तक कि जिन कविताओं को पढ़ने वाले हास्य तथा चुहलबाजी भरी रचनाओं की कोटि में रखना चाहेंगे, उनमें भी ये तत्व किसी न किसी रूप में विद्यमान है। ‘पढ़ि कमाय कीन्हों कहा, हरे न देश कलेस। जैसे कान्ता धर रहे, वैसे रहे विदेस।’¹

अपनी परम्पराओं तथा प्रथाओं का मूल्यांकन, उसके ग्रहणत्याग में सद्-असद् विवेक का उपयोग नव-जागरण कालीन चिन्तन का प्रमुख अंग रहा है। प्रतापनारायण मिश्र की कविताओं में उस युग की सामाजिक तथा राजनीतिक आलोचना से हमारा साक्षात्कार एक बार नहीं, बार-बार होता है। इस प्रसंग में मैं प्रतापनारायण मिश्र की दो कविताओं की चर्चा विशेष रूप से करना अनिवार्य है। यह उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक आलोचना का अच्छा उदाहरण है। इसमें कवि की दृष्टि समाज में

* [पोस्ट डॉक्टोरल फेलोशिप] हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

प्रचलित अनेक कु-प्रथाओं तथा कु-रीतियों पर गयी है। एक प्रकार से इस कविता के द्वारा उस युग का समग्र चित्र हमारे सामने आया है। भारत की आर्थिक दुर्दशा की ओर संकेत करते हुए मिश्र जी लिखते हैं, ‘महँगी और टैक्स के मारे, हमहि हुआ पीड़ित तन छाम। साग पात लौं मिलै न जिय भरि, लेबो वृथा दूध करि नाम॥’

मिश्र जी की कविताओं की प्रमुख विशेषता यह है कि ऋतु वर्णन हो, या वर्षा का चित्रण हो फाग का वर्णन हो या पशुओं की प्रार्थना मिश्र जी की एक कविता अनेक विचारों की ओर इशारा करती है उसका निहितार्थ कहीं और होता है। लोकोत्सवों के वर्णन में भी कवि दीन हीन जनता की दशा का वर्णन के साथ राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी पक्ष विद्यमान रहते हैं। इन्हीं यथार्थवादी कविताओं की परम्परा में हम उनके “लोकोक्तिशतक” को भी रख सकते हैं। जिसमें गाँवों में प्रचलित कहावतों को लेकर अनेक प्रकार के छन्दों की रचना की गयी है। इनका व्यंग्य बहुत तीखा किन्तु सोदेश्य है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। ‘सर्व सुलिय जात अंगरेज हम केवल लेक्चर के तेज। रम बिन बातें का करती हैं। कहु टटकन गाँजैं टरती हैं॥’

देश को दुर्दशा से मुक्त करने का एक ही उपाय मिश्र जी को समझ में आता है और वह था- देश की जनता का संघटित होकर उठ खड़ा होना। इसलिए जब सन् 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संघटन हुआ तो मिश्र जी को आशा की किरण दिखाई देने लगी। उन्हें लगा कि जैसे सारे देवताओं का तेज दुर्गा के रूप में मूर्त हो उठा था वैसे ही सारे भारत की। एकता के बिना देश की उन्नति संभव नहीं अतः लोगों में एकता स्थापित कर देश उन्नति की कामना करते हुए मिश्र जी लिखते हैं, ‘प्रीति परस्पर राखहु मीत, जइहै सब दुःख सहजहि बीत। नहिं एकता सरिस बल कोय, एक-एक मिल ग्यारह होय॥’

इस युग का प्रत्येक रचनाकार अंग्रेजों की शोषणपरक नीति को अच्छी तरह समझता था। इसकी झलक उस युग की रचनाओं में बार-बार मिलती है। भारतेन्दयुग का कोई भी सचेत रचनाकार ऐसा नहीं होगा, जिसने अंग्रेजों की लूट-खसोट का चित्र न खींचा हो। भारतेन्दु की रचनाओं में तो अंग्रेजों द्वारा अपनायी गयी शोषणपरक रीति-नीति की बड़ी गम्भीर एवं तीखी व्यंजना पायी जाती है। मिश्र जी की कविताओं में भी इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, ‘धन गयी बिलायत, बाल व्याह बल खोयो। आकटे मत कुमत अनेक ओम पथ गोयो॥’

इस कविता में धन के बिलायत जाने के साथ ही, बाल-विवाह; जैसी कु-प्रथा का भी वर्णन है तथा आपसी फूट का भी। सामाजिक कु-रीतियों से देश अधः पतन की ओर उन्मुख हो रहा है। बाल-विवाह की निन्दा करते हुए आगे लिखते हैं, ‘बाल व्याह ने बल नहिं रखा, चलते काया डोली हैं। नहीं आने की मुख पर लाली, वृथा बिगड़ी टोली है॥’

भारतेन्दु युग राष्ट्रीय चेतना का युग है। ब्रिटिश साम्राज्य से उत्पन्न असंतोष सभी ओर फैल रहा था। मिश्र जी की कविताओं में भी यह असंतोष प्रकट हुआ है। प्रथमतः तो इन्होंने शासकों के छोटे-छोटे हितैषी कार्यों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की युवराज, विक्टर का स्वागत करते हुए मिश्र जी कहते हैं कि यदि तुम महारानी से निवेदन करोगे तो वे भारतीयों के कष्ट का निवारण करेगी, ‘कछु उपाय करि प्रजा वर्ग की। विपति बिदरि है। सहजहि महे आनन्द अमृत की वर्षा करिहै॥। फिर हम कबहूँ तुम्हरो गुण जिये ते न भूलै हैं। कहिहैं जय जयकार सदा इमि अशिष दे हैं॥। जुग-जुग जीवहु जय जय युत युवराज दुलारे, / जुग-जुग जीवहु श्री विजयिनि के प्रान पियारे।’ सन्दर्भ- ब्राह्मण, खण्ड-6, संख्या-4; युवराज स्वागतन्ते।

किंतु जब उन्होंने देखा निवेदन का कोई प्रभाव नहीं तब उन्होंने अंग्रेजों की भर्त्सना करनी प्रारंभ की। भारतीयों को जगाना शुरू किया, ‘आपनो काम आपने ही हाथन भल होई। परदेशिन परधर्मिन त आशा नहिं कोई॥। धन धरती जिन हरी सुकरि है कौन भलाई। जोगी काके मीत कलंदर केहि के भाई॥। सब तजि गहौ स्वतंत्रता नहि चुप लौटे खाव। रारा केरे त्यो न्याय है पांसा पेरे तो दाव॥’ सन्दर्भ- ‘लोकोक्ति शतक’

प्रताप नारायण मिश्र ने प्रिन्स ऑफ वेल्स के स्वागत में एक कविता लिखी है। यह कविता दोहा छन्द में है। जिसमें कुल 87 दोहे हैं। इस कविता को ध्यान से पढ़ने पर यह दृष्टिगोचर होता है कि प्रिन्स ऑफ वेल्स का स्वागत तो इसमें एक मात्र बहाना है। प्रारम्भ के 15 दोहों में प्रिन्स ऑफ वेल्स की प्रशंसा की गयी है। शेष अधिकांश छन्दों में भारत की सामाजिक और आर्थिक दुर्गति का मार्मिक चित्र खींचा गया है। स्वागत के बहाने कवि ने ब्रिटिश राज में भारतीय जनता पर होने वाले अत्याचारों और अन्यायों की जमकर चर्चा की है, ‘दिन-दिन दूनी दीन दशा, हयौंग के लोगन की। देखत छाती फटति सकीत, नहिं रहत बचन की॥’

अथवा

‘पहुँचावहु सरकार लगि, कुत्सित दशा हमारी। कहाँ लगि ऐसे हु राजमें, भुगते विषम बेगारी॥’

इसमें बताया गया है कि ब्रिटिश अधिकारी तथा सरकारी कारिन्दे बिना मजदूरी दिए ही गरीब जनता से किस प्रकार बेगार करते हैं, ‘का हम ही सरकार के यारे परजा नाहिं। निज इच्छा बिन चोर जिमि, फिर क्यों पकेर जाहि॥। भारत में थे जहु, ऐसोहु हुकुम हुजुर। बरियारी बेगारि में, पकरे कोउ न मजूर॥’

बेगारी करने की प्रथा सामन्त युगीन अवशेष है। लगता है कि इस युग में यह प्रथा काफी जोरों पर थी इसलिए मिश्र जी ने ‘बेगारी विलाप’ शीर्षक से इस प्रथा का पर्दाफाश करते हुए एक स्वतंत्र कविता भी लिखी।

नव-जागरण काल का यह कवि सामाजिक अधः पतन कु-रीतियों, कु-प्रथाओं आदि को जितनी गम्भीरता, मार्मिकता एवं संवेदनशीलता के साथ अनुभव करता है, उससे कई गुना अधिक वह सामान्यजन के आर्थिक शोषण को अनुभव करता है। सम्भवतः इन दोनों के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों से वह परिचित है। उसकी कविता में स्थल-स्थल पर इस बात के प्रमाण हमें मिलते हैं। कहना चाहिए, जहाँ तक देशचिन्ता की बात है, आर्थिक तथा सामाजिक दोनों ही स्तरों पर यह कवि पूर्णतः सजग है। मिश्र जी की एक अत्यन्त प्रसिद्ध कविता है, बैडला स्वागत। इसमें अत्यन्त ओजपूर्ण शैली में देश की आर्थिक दुर्दशा का चित्रण किया गया है। जहाँ और जब भी अवसर मिला है, मिश्र जी ने ब्रिटिश शासन की व्यवस्था, उसमें चलने वाले जनता के शोषण तथा उत्पीड़न का चित्र चित्रित किया है। यह कविता भी उनकी अन्य कविताओं की भाँति प्रकारान्तर से अंग्रेजी राज्य की पोल खोलती है। यह कहते हैं कि अंग्रेजी राज्य सुव्यवस्था, अमन चैन और खुशहाली का पैगाम लेकर आया था, उसका वास्तविक चेहरा प्रताप नारायण मिश्र ने इस कविता में दिखाया है। इसमें नमक, तेल, लकड़ी ही नहीं धास तक पर टैक्स लगाने की बात कवि ने कही है। और फिर यह भी कहा गया कि कृषि शिल्प वाणिज्य तथा इस प्रकार के अन्य सभी घरेलू उद्योग धन्धे चौपट हो गये हैं। इनमें कोई तत्व नहीं रह गया है। भारतेन्दु युग के इस कवि की सामाजिक सजगता और संवेदन-शीलता अद्भुत है। इस कवि ने देश की निर्धनता और दुर्दशा को अत्यन्त निकट से देखा है। इसका प्रमाण निम्नलिखित पंक्तियों से प्राप्त होता है, ‘लोन तेल लकड़ी धासहुँ पर टिकस लगै जहाँ। चना चिरौजी मोल मिले जहाँ दीन आजा कह है॥। जहाँ कृषि वाणिज्य शिल्प सेवा सब मार्हीं। देनिश के हित कछू तत्व कैसे हू नार्हीं॥। बहुतेरे जनद्वार द्वार मंगन बनि डोलहिं। तनिक नाज हि दीन बचन जेहिं तेहि ते बोलहिं॥। पेट अधम अनगिनतिन अकरम करम करावत। दारिद्र दुरगुन पुंज अमित दुःख हिय उपजावत॥’

भारतेन्दु युग के इस कवि की सामाजिक सजगता और संवेदनशीलता अद्भुत है। इस कवि ने देश की निर्धनता और दुर्दशा को अत्यन्त निकट से देखा है। इसका प्रमाण कवि द्वारा लिखी गयी ऊपर की पंक्तियों से प्राप्त होता है। गरीबी मनुष्य के आत्मसम्मान का किस प्रकार सत्यानाश करती है, यह तथ्य ऊपर की पंक्तियों में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उजागर हुआ है। इस प्रकार की बात वही कवि कह सकता है, जिसको जनता के प्रति आत्मीयता हो।

मिश्र जी की कविताओं में जहाँ भक्ति तथा प्रेम की कवितायें हैं। तो भारतेन्दु की कविताओं की तरह मिश्र जी कविताओं में भी पुरातन प्रेम तथा नव चेतना एक दूसरे से घुले मिले हैं। भारतेन्दु युग की कविताओं में मध्यकाल की छाया बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ती है। भक्तिपरक पदों की रचना भारतेन्दु ने तो की ही उनके समकालीन अन्य कविताओं ने भी भक्ति परक रचनाएँ की। प्रताप नारायण मिश्र की प्रसिद्ध कविता “पितु मातु सहायक स्वामि सखा, तुमरी इक नाथ हमारे हो” से कौन नहीं परिचित इस प्रकार की आत्म निवेदन परक कुछ अन्य कविताएँ भी मिश्र जी ने लिखी हैं किन्तु उनकी अधिकांश भक्ति परक कविताओं में आत्म निवेदन का स्थान सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना ले लेती है। उनमें कवि आत्मोद्धार की जगह स्वदेश की पराधीनता और परवशता से मुक्ति के लिए बार-बार आह्वान करता है। उनकी भक्ति और दार्शनिकता लोकोन्मुखी तथा आवृत्ति मूलक होती गयी एवं ऐसी कविताओं में आत्मगलानि की जगह देशोत्थान का भाव ले लेता है।

‘निज करुणा रस बरसावे प्रभु। अब भारत को अपनाओ। देखि दुर्दशा आरज कुल की, बैंगि दया उर लावो॥। भारत मन रे जिनी सभा में, नित नव मोद मचावो॥’

निष्कर्षतः मिश्र जी की कविताओं में भक्ति तथा प्रेम की कविताएँ हैं- अतीत के प्रति मोह, भविष्य की चिन्ता के साथ इसमें कवि का उर्दू-फारसी प्रेम भी विद्यमान है, किन्तु यह सब कुछ उसका केन्द्रीय स्वर नहीं है। इसका केन्द्रीय स्वर देशप्रेम है, जातीय चेतना है, अंग्रेजी राज्य की क्रूरता की पहचान है। देश को गरीब शोषित-पीड़ित जनता के कष्टों को उजागर करना इनका

पण्डित प्रताप नारायण मिश्र की कविताओं में समसामयिक सम्बन्ध

प्रमुख उद्देश्य हैं। इन बातों को ध्यान में रखें बिना न भारतेन्दु युग को हम समझेंगे, न उसमें निहित देख-भक्ति, राज-भक्ति के मिश्रित स्वर के रहस्य को और न उस सन्दर्भ के प्रमुख कवि प्रतापनारायण मिश्र को।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

प्रताप नारायण मिश्र कवितावली -(सम्पादक) श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, प्रकाशक- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद।
पं० प्रतापनारायण मिश्र का कविकर्म- (लेखक) डॉ० सच्चिदानन्द द्विवेदी, प्रकाशक- संस्कृति प्रकाशन, वाराणसी।
हिन्दी साहित्य का इतिहास -(लेखक) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक- नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भाषा के सिद्धहस्त कवि : तुलसीदास

डॉ. सुजीत कुमार सिंह*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित भाषा के सिद्धहस्त कवि : तुलसीदास शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं सुजीत कुमार सिंह घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कार्पोराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

भाषा के सम्बन्ध में तुलसीदास का एक अपना दृष्टिकोण है। वे भाषा में स्वाभाविकता, सहजता तथा जनग्राह्यता के पक्षधर हैं। वे बलात् थोपी गई भाषा को पसन्द नहीं करते हैं। भाषा से तुलसीदास का तात्पर्य जनभाषा से है, लोकभाषा से है तथा उस भाषा से है जो मानव के अधिक निकट हो। वे संस्कृत भाषा के पक्षपाती नहीं हैं, जो तत्कालीन मनुष्य से दूर हो, ‘का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच। काम जु आवै कामरी, का ले करै कुमाच॥’¹

कबीर ने भाषा को बहता नीर की संज्ञा दी है, जो सुलभता, सहजता तथा मनोरमता में कूपजल (संस्कृत) से बहुत आगे है, “संस्कीरत है कूपजल भाषा बहता नीर।”²

यही नहीं विद्यापति को भी देसिल बअना (देशी वाणी) सर्वाधिक मीठी लगी थी जिसका उल्लेख उन्होंने कीर्तिलता में किया है, “देसिल बअना सब जन मिद्दा/ तें तैंसन जम्पओं अवहद्वा॥”³

इसी प्रकार तुलसीदास ने भी अपनी कविता में अवधी तथा ब्रज जो उस समय की जनभाषा थी, का प्रयोग किया है। तुलसी का प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘रामचरितमानस’ अवधी भाषा में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त ‘रामलला नहछू’, ‘बरवै रामायण’, ‘पार्वती मंगल’, ‘जानकी मंगल’ तथा ‘रामाज्ञा प्रश्न’ आदि रचनाएँ भी अवधी भाषा में लिखी गई हैं। ‘श्रीकृष्ण-गीतावली’, ‘कवितावली’, ‘गीतावली’, ‘विनयपत्रिका’, ‘दोहावली’ तथा वैराग्य सन्दीपनी’ आदि रचनाएँ ब्रजभाषा में रचित हैं।

जहाँ तक अवधी भाषा का प्रश्न है तो इस भाषा की सबसे पुरानी रचना ईश्वरदास की ‘सत्यवती कथा’ को माना जाता है। बाद में प्रेममार्गी शाखा के जायसी आदि मुसलमान कवियों ने भी अपनी कविता के लिए अवधी भाषा ही चुनी, लेकिन जायसी के यहाँ अवधी का ठेठ रूप देखने को मिलता है जबकि तुलसी के काव्य में संस्कृतनिष्ठ अवधी का प्रयोग हुआ है। इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ‘जायसी ग्रन्थावली’ की भूमिका में इन दोनों कवियों के भाषायी अन्तर को स्पष्ट करते

* [पोस्ट डॉक्टोरल फेलोशिप] हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

हुए लिखते हैं, “जायसी की वाक्य रचना स्वच्छ होने पर भी तुलसी के समान सुव्यवस्थित नहीं है। उसमें जो वाक्यदोष मुख्यतः दिखाई पड़ता है, वह न्यूनपदत्व है। विभक्तियों का लोप, सम्बन्धवाचक सर्वनामों का लोप, अव्ययों का लोप जायसी में बहुत मिलता है। विभक्ति या कारक चिन्ह का अध्याहार तुलसी की रचनाओं में भी कहीं-कहीं करना पड़ता है, परन्तु उन्होंने लोप या तो ऐसा किया है, जैसा बोलचाल में भी प्रायः होता है- पर जायसी ने मनमाना लोप किया है- विभक्तियों का ही नहीं, सर्वनामों और अव्ययों का भी।”⁴

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में भगवान श्रीराम के लोक-हितकारी स्वरूप की अभिनव प्रतिष्ठा के लिए संस्कृत भाषा के स्थान पर लोक-भाषा अवधी का प्रयोग करके अपनी क्रांतिकारी दृष्टि का परिचय दिया है। तभी तो डॉ रामरत्न भट्टनागर कहते हैं, “सर्वतोमुखी प्रतिभावाले तुलसीदास की भाषा में अनुभूति की तीव्रता, व्यापकता, विविधता और विचित्रता देखने को मिलती है। तुलसी ने अभिव्यंजना के विविध रूपों में अनुभूति को स्थिरता प्रदान कर भावों को सुनियोजित और संतुलित किया है। इस प्रकार तुलसी की भाषा व्यावहारिक और शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। शब्द स्थान से रस नियोजन तक में तुलसी अपनी पैनी दृष्टि रखते हैं। उनके काव्य में चिन्तन, संवेदन और अन्तर्दृष्टि की रेखाएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं। मानव प्रकृति का उनका अध्ययन गहरा है और भाषा के मौलिक स्पंदन, उनके संगीत और उसके द्वारा परिपूर्ण बिम्बों की सृष्टि की महत्ता को वे भलीभाँति समझते हैं।”⁵

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में भाषा का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया है जो विषय, मनोभाव और पात्रानुकूल है। यही नहीं तुलसीदास साहित्यशास्त्र के सभी अंगों से पूर्णरूप से परिचित थे। उनके काव्य में रस, अलंकार, ध्वनि, गुण आदि का सहज, एवं स्वाभाविक प्रयोग देखने को मिलता है। साथ ही साथ उनकी रचनाओं में शब्द की तीनों शक्तियों अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का समुचित प्रयोग हुआ है। जहाँ अनुभूति के यथार्थ चित्रण की बात आती है वहाँ तुलसी ने अभिधा शब्दशक्ति का प्रयोग किया है तथा इसके तीनों वाचक शब्दों- रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ का भरपूर प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलता है। यथा- रूढ़; पुस्तक, कलस आदि। यौगिक; दिवाकर, निसाचर आदि। योगरूढ़; पंकज, गननायक आदि। तुलसी ने लक्षणा का प्रयोग भी स्वाभाविक रूप से किया है, ‘बाँस पुरान साज सब अठकठ,/ सरल तिकोन खटोलारे।’⁶

..और जहाँ तक व्यंजना शब्दशक्ति का सवाल है तो साहित्य में यथार्थ सीधे व्यंजित नहीं होता और न ही ऐसा करके कवि रचना की शक्ति को नष्ट करना चाहता है। अतः रसानुभूति में व्यंजना का सर्वाधिक महत्व है तथा तुलसी ने अनेक स्थानों पर व्यंजना के माध्यम से मन की भावमय स्थिति का चित्रण किया है। यथा- शब्दी व्यंजना का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत दोहे में दिखाई देता है, ‘द्विजदेव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई।’

यहाँ द्विज शब्द के अनेक अर्थों यथा- ढाँचा, पक्षी, चन्द्रमा तथा ब्राह्मण आदि के सम्भव होते हुए भी संसार से पार होने का प्रयोजन होने के कारण इसका अर्थ ‘ब्राह्मण’ ही होगा।

इसी प्रकार आर्थी व्यंजना जो वक्ता, वाक्य, वाच्य, प्रस्ताव, प्रकरण, देश, काल, चेष्टा, काकु (कंठध्वनि) आदि के माध्यम से व्यांग्यार्थ की प्रतीति करती है, का अनेक उदाहरण रामचरितमानस में देखने को मिलता है। यथा, “मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित ताप मो कहाँ भोगू।”⁷

उपर्युक्त दोहे में राम-सीता को बन जाने से रोकते हैं। वे कहते हैं- तुम जैसी सुकोमला के लिए बन का वातावरण अनुकूल नहीं है। साथ ही मार्ग में वनगमन के समय अनेक कष्ट हो सकते हैं। लेकिन सीता की कंठध्वनि इस अवसर पर दूसरा ही अर्थ ध्वनित करती है और सीता जी कहती हैं, मैं सुकुमारि हूँ और नाथ बन के योग्य हैं? यदि मैं सुकुमारता के कारण बन नहीं जा सकती, तो आप भला कहाँ कम सुकुमार हैं, आप के लिए तप और मेरे लिए योग कहाँ उचित है? अतः यदि आप बन जा सकते हैं तो मैं भी। अतः व्यंजना के ऐसे रसमय प्रयोग तुलसी की रचनाओं में भरे पड़े हैं।

इसके अलावा तुलसीदास के काव्य में प्रयुक्त हुए बिम्बों का सम्बन्ध अनुभूति से है, तभी तो डॉ शाम्भुनाथ पाण्डेय कहते हैं, “तुलसी का बिम्बविधान अनुभूति केन्द्रित है। सामान्य सन्दर्भों में ऐन्द्रिक, मानसिक तथा जहाँ उन्हें जीवन की किसी गहरी तथा संश्लिष्ट अनुभूति का चित्रण करना अभीष्ट होता है, वहाँ वे विविध समानान्तर बिम्बों का स्तवक सजा देते हैं।”

यही नहीं जहाँ तक अलंकारों के प्रयोग की बात है तो तुलसी के सारे ग्रन्थों में अलंकारों का मर्मस्पर्शी प्रयोग किया गया है अर्थात् अलंकार भावउदीप्ति में साधक सिद्ध हुए हैं। उन्होंने अपने काव्यग्रन्थों में उत्क्रेष्ठा, रूपक आदि सभी अलंकारों का प्रयोग किया है। यथा-

उत्क्रेष्ठा- “लता भवन तें प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ। निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद पटल बिलगाई॥”

रूपक- “उदित उदय गिरि मंच पर रघुवर बाल पतंप। बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥”

तुलसीदास मुहावरों की शक्ति से अच्छी तरह परिचित थे, इसीलिए उन्होंने अपनी भाषा में प्रसंगवश मुहावरों का भी प्रयोग किया है। उदाहरण, ‘सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे’; ‘चहत बारि पर भीति उठावा’।

इसी प्रकार प्रभावी भावाभिव्यक्ति के लिए उन्होंने अपनी भाषा में लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। मानसकार की बहुत सी उक्तियाँ तो स्वतः लोकोक्ति बन गई हैं, “कीरति, भनिति, भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।”

इस प्रकार तुलसी की भाषा सिद्ध भाषा है। विषय, भाव, पात्र इत्यादि के अनुसार जब जैसी परिस्थिति होती है, उसी में ढल जाती है। वात्सल्य के क्षणों में वह तोतली बोली बोलती है, शृंगार के क्षणों में कंकण और किंकिणि की भाँति खनकती है, युद्ध-क्षेत्र में जुझारू बाजे की भाँति गड़गड़ा उठती है और दुःख तथा विषाद की बेला में हाहाकार कर उठती है। भक्ति, वैराग्य अथवा दर्शन का प्रतिपादन करते समय वह भागीरथी के प्रशान्त प्रवाह की भाँति मुखर होती है और व्यंग्य, विद्रूप अथवा विनोद के क्षणों में बरसाती नाले की भाँति उछलने लगती है। उनकी काव्यभाषा में रस, छन्द, अलंकार आदि का प्रसंगवश उचित प्रयोग हुआ है जिससे भावाभिव्यक्ति सहज एवं स्वाभाविक रूप में प्रकट होती है।

सन्दर्भ सूची

¹ दोहावली 572

² कबीर- भाषा को अंग, साखी

³ कीर्तिलता

⁴ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल -जायसी ग्रंथावली, (भूमिका), पृष्ठ संख्या 194

⁵ डॉ० रामरत्न भटनागर -तुलसी का नवमूल्यांकन, पृष्ठ संख्या 23

⁶ विनय पत्रिका, 189

⁷ मानस 1/122

हिन्दी साहित्य में पर्यावरणीय चेतना का विकास

डॉ. निशा यादव*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित हिन्दी साहित्य में पर्यावरणीय चेतना का विकास शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका मैं निशा यादव घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

आदिकाल से भारतीय संस्कृति और साहित्य में प्रकृति और पर्यावरण के संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया है। भारत वर्ष में हमेशा मूर्त अथवा अमूर्त रूप में पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, सूर्य, चंद्रमा, नदी-नाले, पेड़-पौधे एवं जीव-जंतुओं के साहचर्य में मानव जीवन की कल्पना की गई है। पर्यावरण शब्द 'अनावरण' में 'परि' उपसर्ग- संश्लिष्ट से निर्मित है, जिसका शाब्दिक अर्थ चारों ओर से ढकना, आच्छादन, घेरा है। डॉ. बद्रीनाथ कपूर इसकी वैज्ञानिक परिभाषा 'आस-पड़ोस' की परिस्थितियाँ और उसके प्रभाव से समीकृत करते हैं। 'परि' संस्कृत का उपसर्ग है जिसका अर्थ 'अच्छी तरह' और 'आच्छादन' भी है। आवरण का शाब्दिक अर्थ ढकना, छिपना, घेरना, चहारदीवारी है। यद्यपि शाब्दिक अर्थ से इसका पूर्ण अभिप्राय प्रकट नहीं होता, तथापि इसका मूल अर्थ इसमें समाकृत है।

'पर्यावरण' नवनिर्मित पारिभाषिक शब्द है, लेकिन इसके पूर्व, इसके व्यवहार हेतु यहाँ 'परिधि' और 'परिवेश' जैसे शब्दों का प्रचलन रहा है। अर्थवेद में परिधि अधिक विस्तृत रूप में स्वीकृत है। 'गौ अश्व एवं पशु आदि सभी प्राणियों के जीवन के लिए एक परिधि अत्यावश्यक है।'

मानव-कृत पर्यावरण आधुनिक समस्या है। पहले न तो जनसंख्या की प्रचुरता थी और न उसके प्रदूषित होने का आसन्न संकट था। यहीं कारण है कि पर्यावरण शब्द का चलन नया है। पर्यावरण अंग्रेजी के 'इन्वायरमेंट' से समीकृत है, जिसका आशय है ऐसी क्रिया जो घेरने के भाव को सूचित करे। डॉ. रघुवीर ने प्रथम प्रयोक्ता के रूप में 'पर्यावरण' शब्द को गढ़ा। स्पष्ट है हमारे चारों और जो विराट प्राकृतिक परिवेश विस्तृत है, वही पर्यावरण है। वह हमें प्रभावित करता है। अतः इसका प्रदूषण रहित होना जीवन के लिए अनिवार्य है। इस भाव के प्रकटीकरण में साहित्य एक सशक्त माध्यम हो सकता है।

मानव जाति में पर्यावरण रक्षण-संरक्षण की चेतना जागृत करने के लिए हिन्दी साहित्य में खूब लिखा गया है। कवियों और कथाकारों के प्रकृति प्रेम वर्णन में भी कहीं न कहीं पर्यावरणीय चेतना का पक्ष प्रतिबिम्बित होता है। मानव जाति के ज्ञात इतिहास

* असिस्टेंट प्रोफेसर (आमंत्रित), कन्या गुरुकुल कॉलेज देहरादून कैम्पस [गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय] हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

में पर्यावरण चेतना का भाव समाहित रहा है। वेदों में भी पर्यावरण की महत्ता हमें दिखलाई पड़ती है। ऋग्वेद में वायु के गुणों की चर्चा इस प्रकार की गई है- ”वात आ वातु भेषजं शंभू मयोभु नो हदे। प्राण आयुंषि तारिषत्”-ऋग्वेद (10/86/1) अर्थात् शुद्ध ताजी वायु अमूल्य औषधि है जो हमारे हृदय के लिए दवा के समान उपयोगी है, आनन्ददायक है। वह (पर्यावरण) उसे प्राप्त करता है और हमारी आयु को बढ़ाता है। संस्कृत के प्रकृति के कुशल चित्तेरे महाकवि कालिदास ने भी ’अभिज्ञान-शाकुन्तलम्’ और अपनी दूसरी कृतियों में बखूबी प्रकृति चित्रण के माध्यम से मानव जाति को पर्यावरणीय सजगता का संदेश दिया। इसी प्रकार दंडी, तुलसीदास से लेकर सुमित्रानन्दन पंत और जयशंकर प्रसाद आदि तक सभी के काव्य में प्रकृति और पर्यावरण की चेतना पर व्यापक लेखन किया गया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल और रीतिकाल से लेकर आधुनिक काल के सभी कालखंडों जैसे- भारतेन्दु युग, द्विवेदी काल, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में भी प्रकृति का विविध रूपों में वर्णन कर आम जन-मानस में पर्यावरण चेतना का संचार किया गया।

भारतीय दर्शन भी मानव देह की रचना पाँच महत्वपूर्ण घटकों पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश से ही मानता है। पौराणिक मान्यता है कि समुद्र मंथन के दौरान वृक्ष जाति के प्रतिनिधि के रूप में कल्पवृक्ष का निकलना और उसे देवताओं द्वारा संरक्षण देना एवं इसी तरह कामधेनु और ऐरावत हाथी का रक्षण पर्यावरण चेतना का उदाहरण है। कृष्ण द्वारा गायों की रक्षा और मस्तक पर सुशोभित होने वाले मुकुट में मोर पंख धारण करना और गोवर्धन पर्वत की पूजा प्रारंभ करना, दरअसल मानव जाति को मिट्टी, पर्वत, वनस्पति और वन्यजीवों को रक्षण और इनके आदर का संदेश ही देता है।

उपनिषदों में भी लिखा गया है- हे अश्वरूप धारी! परमात्मा-बालू तुम्हारे उदरस्थ अर्ध जीर्ण भोजन है, नदियाँ तुम्हारी नाड़ियाँ हैं, पर्वत पहाड़ तुम्हारे हृदय खंड हैं, समग्र वनस्पतियाँ, वृक्ष एवं औषधियाँ तुम्हारे रोम सदृश हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आज भले पर्यावरण संरक्षण को लेकर समस्त विश्व में चेतना जागृत होती दिखाई दे रही हो लेकिन आदिकाल से भारतीय संस्कृति में प्रकृति और पर्यावरण रक्षण को लेकर पर्याप्त चौतन्य भाव रहा है।

भारतीय संस्कृति के पर्यावरण संरक्षण के इसी तत्व की छाप हिन्दी साहित्य में भी महसूस की जा सकती है। आखिर कहा भी जाता है कि साहित्य अपने समय और समाज का दर्पण ही तो होता है। तभी तो जो साहित्य अपने समय के सवालों के उत्तर खोजने की चेष्टा नहीं करता उस साहित्य विर्मश का खास उद्देश्य नहीं रह जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा भी है कि उद्देश्यहीन काव्य को काव्य कहने में संकोच लगता है। हर साहित्यकार अपनी कलम के माध्यम से समाज को कोई खास संदेश सम्प्रेषित करने की चेष्टा रखता है। पर्यावरण भी एक ऐसा विषय रहा है जिसे लेकर हिन्दी कवियों और कहानीकारों ने सोये समाज को पर्यावरण के प्रति सचेत करने की बहुधा कोशिश की है।

आज जब हम पर्यावरण रक्षा के नाम पर पानी, मिट्टी और पहाड़ बचाने के लिए अनेकानेक उपाय खोज रहे हैं, जैसे मृदा संरक्षण के लिये सीढ़ीनुमा खेत बनाने के अलावा पेस्टीसाइड, कीटनाशकों एवं उर्वरकों के अधिकाधिक इस्तेमाल से ऊसर होती धरती पर आँसू बहाते हुए जैविक खेती की वकालत कर रहे हैं, तब हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल रास्ता दिखाता प्रतीत होता है। जहाँ एक ओर कबीर का यह दोहा बहुत कुछ कहता है, ”माटी कहे कुम्हार से तू क्यो रैंदे मोय,/ एक दिन ऐसा आयेगा मैं रौंदूंगी तोय।”

कबीर जहाँ जीवन की क्षण भंगुरता की ओर इशारा करते हैं वहीं इसका एक आशय यह भी है कि मिट्टी अनमोल है और मानव जाति को इसका रक्षण करना चाहिए। तो दूसरी ओर गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित जन जन में लोकप्रिय ’रामचरितमानस’ में प्रकृति के जीवन्त रूप की अभिव्यंजना पूर्ण भव्यता के साथ उजागर की गई है। लंकापति रावण द्वारा सीताहरण के बाद सीता को खोजने निकले राम रास्ते में आये पशु-पक्षी और पेड़-पौधों से भी पूछते हैं- ”हे खग हे मृग हे मधुकर सेनी तुम देखी सीता मृगनयनी।”

उपर्युक्त पंक्ति में तुलसीदास ने प्रकृति का मानवीकरण करते हुए पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों से श्रीराम का संवाद स्थापित कर मानव जाति और प्रकृति एवं पर्यावरण के बीच साहचर्य का अनूठा चित्रण प्रस्तुत किया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के भारतेन्दु युग में कवि जगमोहन सिंह की कविताओं में भी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण देखने को मिलता है- ”पहार अपार कैलास से कोटिन ऊँची शिखा लगि अंबर चूम,/ निहारत दीठि भ्रमै पगिया गिरि जात उतंगता ऊपर झूम।”

यहाँ कवि ने विंध्य पर्वत की प्राकृतिक सुषमा का सजीव और वैविध्यपूर्ण चित्रण कर मानव जाति को पर्वत मालाओं की महत्ता बतायी है।

आधुनिक काल के द्विवेदी युग के समानांतर चलने वाली स्वच्छंदतावादी विचारधारा की मुख्य विशेषताओं में वन का महत्व एवं प्रकृति पर्यावरण शामिल हैं। श्रीधर पाठक ने अपनी काव्य में जिस प्रकृति सौन्दर्य का वर्णन किया है वह हिन्दी साहित्य के अन्य सौन्दर्य वर्णन से भिन्न है। पाठक ने अपनी काव्य रचनाओं में खेत-खिलिहानों और फसलों का वर्णन स्वच्छंद रूप से किया है। सन् 1900 में उन्होंने 'गुनवंत हेमंत' कविता में लिखा- "जौ गेहूँ के खेत सरस सरसों घनी,/ दिन दिन बढ़ने लगी विपुल शोभा सनी। सुधर सौफ सुंदर कुसुम की क्यारियाँ,/ सौआ पालक आदि विविध तरकारियाँ,/ अपने अपने ठोर सभी ये सोहते/ सुंदर शोभा से सबका मन मोहते।"

प्रकृति के इस सौन्दर्य बोध में प्रेयसी का कहीं वर्णन नहीं दिखता बल्कि पर्यावरणीय सौंदर्य है जो हर कोई अपने आस-पास फैले जीवन में महसूस करता है। कवि का जोर है कि आम जन प्रकृति के इस सौन्दर्य में डूबकर अपने आस-पास के पर्यावरण की रक्षा करें न कि उसे हानि पहुँचाये। श्रीधर पाठक पर्वतमालाओं, जल-स्रोत और वन पर आगे भी लिखते हैं- "चारु हिमाचल आँचल में एक साल बिसालन कौ बन है,/ मृदु मर्मर शीत झरैजल स्रोत है पर्वत ओट है निर्जन है।"

इसी प्रकार रामनरेश त्रिपाठी के खंड काव्य 'स्वन्ध' और 'पथिक' आते हैं जिनमें से स्वन्ध में उत्तर भारत की प्रकृति और पथिक में दक्षिण भारत के प्रकृति और पर्यावरण का वर्णन हुआ है।

छायावादी कवियों ने प्रकृति का मानकीकरण कर प्रकृति के अचेतन एवं जड़ अवयवों को सत्ता से जोड़ा है। प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत तो पर्यावरण प्रेमी के रूप में ही जाने जाते हैं। प्रकृति का जैसा मधुर और सरस वर्णन उन्होंने अपने काव्य में किया है उतना शायद ही किसी अन्य कवि ने किया हो- "छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया/ बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ 'लोचन'?/ भूल अभी से इस जग को।"

पंत ने अपनी इस कविता में पर्यावरण एवं प्रकृति सौन्दर्य और प्रेम के समक्ष नारी सौन्दर्य को ठुकरा दिया है। दरअसल पंत ने अपनी कविता की प्रेरणा का स्रोत प्रकृति और पर्यावरण को ही बताया है। धरती को माँ स्वरूप मानकर पंत प्रकृति में ही ममतामयी माँ का स्नेह ढूँढते हुए घोंसला नामक कविता में कहते हैं- "यहाँ मिलीं,/ माँ के आँचल की छांव/ शाश्वत स्नेह, निश्छल प्यार/ देवकी नहीं मिली तो क्या?/ प्रकृति रही सदा उनके साथ/ यशोदा बनकर/ बाँहों के हिंडोले पर/ झुलाती रही उनका बालपन/ सहलाती रही उनके कोमल गाल,/ आहत मन को देती रही सहारा,/ बहलाती रही उनका बालपन/ दूर भगाती रही अकेलापन/ प्रकृति को तन मन कर अर्पण/ जिए सदा प्रकृति दर्पण बन।"

प्रकृति निर्मित पर्यावरणीय भावनाओं को छायावादी कवियों ने कोमल भावनाओं के साथ विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। जहाँ प्रकृति अपने पारिभाषिक रूप में वायु, जल, मृदा, पादप तथा प्राणी को समेटकर संपूर्ण जैविक परिस्थितियों को जोड़कर जीवों की अनुक्रियाओं को प्रभावित करती हैं, वहाँ प्रकृति मानसिक अनुक्रियाओं को संपूर्ण भावों के साथ भी प्रभावित करती है।

छायावादी कवियों का प्रकृति से गहरा नाता रहा है। जयशंकर प्रसाद अपनी कालजयी रचना 'कामायनी' में समस्त प्रकृति प्रदत्त शक्तियों का भौतिकवादी मानवों द्वारा शोषण का वर्णन करते हुए कहते हैं- "प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी,/ शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।"

छायावाद की तरह प्रगतिवाद में भी प्रकृति और पर्यावरण की महत्ता को आम जन-मानस तक पहुँचाने का काम किया गया। प्रगतिवादी कवि केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविताओं में ग्राम्य जीवन की प्रकृति का जीवंत वर्णन करते हुए समाज में पर्यावरणीय चेतना जगाने का काम किया है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में पेड़-पौधे, नदियाँ, पहाड़ और फसल सब कुछ स्पष्ट दिखता है। यहाँ प्रकृति खेतों-खिलिहानों, बाग-बगीचों वाली वास्तविक प्रकृति है, कल्पना लोक का कोई उद्यान नहीं। एक प्रकृति चित्र देखिये- "आज नदी बिलकुल उदास थी/ सोयी थी अपने पानी में,/ उसके दर्पण पर/ बादल का वस्त्र पड़ा था/ मैंने उसको नहीं जगाया/ दबे पाँव वापस घर आया।"

प्रयोगवादी धर्मवीर भारती ने अपने प्रसिद्ध गीत-नाट्य 'अंधायुग' में भी महाभारत युद्ध के वर्णन के माध्यम से आधुनिक युग में मची हथियारों की होड़ के संभावित खतरों की तरफ इशारा करते हुए प्रकृति और पर्यावरण को होने वाले नुकसान पर चिन्ता जाहिर की है।

”मैं हूँ व्यास/ ज्ञात क्या तुम्हें हैं परिणाम इस ब्रह्मस्त्र का/ यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु/ तो आगे आने वाली सदियों तक/ पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी/ शिशु होंगे पैदा विकलांग कुण्ठाग्रस्त/ सारी मनुष्य जाति बौनी हो जाएगी।”

निबंध जैसी विधा के माध्यम से भी प्रकृति और पर्यावरण को लेकर चेतना जगाने का प्रयास किया गया। प्रसिद्ध विचारक, निबंध लेखक और उपन्यासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ललित निबंधों जैसे अशोक के फूल, देवदारु, शिरीष के फूल और आम फिर बौरा गये, कुट्टज आदि के शीर्षकों से ही भली प्रकार पर्यावरण और प्रकृति की महक आती है।

अद्यतन हिन्दी कवियों ने भी प्रकृति निर्मित पर्यावरण का उद्दीपक, संवेदनात्मक, उपदेशात्मक रूपों का वित्रण चेतना के स्तर पर किया है। कवियों ने प्राकृतिक पर्यावरण का भौतिक रूप देखने के साथ साथ उसके मन के तहों को भी टटोला है। पर्यावरण को सबसे ज्यादा नुकसान भू-मण्डलीकरण और अंधाधुँध औद्योगिकीकरण से हुआ; इसीलिए निलय उपाध्याय लिखते भी हैं- ”मुझे कल्पवृक्ष नहीं चाहिए/ नहीं चाहिए कामधेनु/ इस पृथ्वी पर जिन्दा रहने के लिए/ मुझे इतना ही अन्न चाहिए/ जितना चींटी अपनी चोंच में ले कर चलती है/ उतनी ही जमीन चाहिए कि पसर सके लौकी की लतर/ और उतना ही कपास कि ढक जाये लाज।”

यानी पर्यावरण प्रदूषण और निजी हाथों द्वारा धरा के दोहन से मिलने वाले फायदे की बजाय अनिवार्यताओं की पूर्ति ही काफी है। अगर हर कोई आवश्यक को ही अपनी जरूरत मान ले तो पर्यावरण प्रदूषण के कई सवाल खुद ब खुद हल हो जायें। दरअसल साहित्य किसी भी समाज का आँकना होता है और हिन्दी साहित्य के हर युग में प्रकृति निर्मित पर्यावरण को लेकर लोक चेतना जागृत करने का कार्य हुआ। यह साहित्य ही है जो प्रकृति और पर्यावरण के अंदरूनी पहलुओं को उजागर कर मानव जाति में जागरण का हरकारा बन सकता है। आज भी भोगवादी मानव समुदाय, जो सिर्फ और सिर्फ प्रकृति का उपभोग कर रहा है, उसे जरूरत है अपने अंदर के जड़-तत्वों को बाहर निकाल फेंकने की। जिस दिन मानव समुदाय प्रकृति में अपनी भावनाएँ खोजने लगेगा उस दिन पर्यावरण स्वमेव परिष्कृत और परिशोधित हो जाएगा। और मानव जाति में चेतना का यह जागरण सिर्फ और सिर्फ साहित्य ही कर सकता है। हिन्दी साहित्य इस पर खरा उत्तरता आया है लेकिन अब चुनौतियाँ कहीं ज्यादा दुरुह हैं। आज हिन्दी साहित्यकारों को भी प्रकृति और पर्यावरण के स्तर मिल रही दिनों दिन चुनौतियों पर बड़ी ही तेजी और तत्परता के साथ कलम चलानी होगी।

संदर्भ

वैज्ञानिक परिभाषा कोष -डॉ. ब्रीनाथ कपूर, पृष्ठ संख्या 325

वृहद हिन्दी कोष -कलिका प्रसाद, पृष्ठ संख्या 1025

संस्कृत शब्दार्थ कीस्तुय -तारिणीश झा, पृष्ठ संख्या 648

अथर्ववेद, 8/2/55

ऋग्वेद, 10/86/1

उदंती पत्रिका

हिन्दी डॉट वाटर इंडिया पॉर्टल डॉट ओआरजी

पर्यावरण और जीव -प्रेमानंद चंदोला

हिमालय की संपदा -डॉ. प्रेमस्वरूप सकलानी

पर्यावरण और हम -शुकदेव प्रसाद

धोंसला -सुमित्रानंदन पंत

कामायनी -जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ संख्या 299

हिन्दी साहित्य का इतिहास -रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्य 20वीं शताब्दी -आचार्य नंदुलारे वाजपेयी, पृष्ठ संख्या 145

हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. हरदयाल

मानव-मूल्यों की वर्तमान संकटमयी स्थिति एवं शिक्षक का मूल्यों प्रति नियत कर्तव्य

डॉ. हेमराज*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित मानव-मूल्यों की वर्तमान संकटमयी स्थिति एवं शिक्षक का मूल्यों प्रति नियम कर्तव्य शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं हेमराज घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

सारांश

विश्व में किसी न किसी कारण से आपाधापी की स्थिति बनी ही रहती है। बड़े-2 राष्ट्र अपने लाभ के लिए अन्य देशों को बाजारवाद की दृष्टि से देखते हुए शोषण के अनेक ढंग तलाशते रहते हैं। अहंकार सहित सब की दृष्टि पर बड़े-2 नम्बरों का स्वार्थी चश्मा चढ़ा होता है। भारत विकसित होने के लिए संघर्ष कर रहा है परन्तु मूल्यवहीन आचरण होने के कारण यदि एक कदम आगे जाता है तो घोटालों के कारण दो कदम पीछे आ जाता है। समाज में मानव-मूल्यों का पतन प्रत्येक सीमा को पार करता हुआ लूटपाट और आंतकवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए प्रत्येक नागरिक व छात्र के आचरण में मानव-मूल्यों का दृढ़ता से अनुस्यूतिकरण हो ना अति आवश्यक है और विद्यालयों में इसके प्रशिक्षण के लिए अध्यापकों का जी जान से सहयोग अनिवार्य है, जिससे समाज में वास्तविक शांति, उन्नति और न्यायक साम्राज्य स्थापित हो सके। कोई लक्ष्य बड़ा नहीं, जीता वही जो डरा नहीं।

‘मानव मूल्य’ जीवन निधि के वह अमूल्य सूत्र हैं जो मनुष्य की अन्य प्राणियों से अलग पहचान बनाए रखते हैं। ‘मानव मूल्यों’ के बिना मनुष्य का जीवन पशु तुल्य है। मानव मूल्यों का सम्बन्ध मानवता से और यह मनुष्य के व्यक्तित्व के अंग तथा चेतना के गहरे स्तरों से सम्बन्धित होते हैं। “जिस विषय को खोज का विषय होने पर विवेक का समर्थन प्राप्त होता हो, वही मूल्य है।”¹ अतः बिना विवेक सब कुछ अर्थहीन है। मूल्य सार्थकता से भी भरपूर होते हैं जैसे कि इस कथन से स्पष्ट है कि “मूल्य उस गुण समवाय का नाम है जो किसी पदार्थ की अपने लिए, प्रमाता के लिए अथवा अपने परिवेश के लिए सार्थकता का निर्धारण करता है। पदार्थ का गुण होने के कारण मूल्य की सत्ता वस्तु परक है, किन्तु प्रमात्रसाक्षेप होने के कारण वह व्यक्तिपरक है।”²

* [सेवा निवृत्त] प्रधानाचार्य, श्रीमती ज्वाला देवी बी.एड., कॉलेज [संघोल-ऊँचा पिण्ड] फतेहगढ़ साहिब (पंजाब) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

मानव मूल्य समाज द्वारा भिन्न-भिन्न अवसरों पर बनाये गए वह नियम हैं, जिनके बहुत उच्च आदर्श, दृढ़ संकल्प तथा महानलक्ष्य होते हैं। समाज इन्हें स्वयं स्वीकृति देता है और इनके अनुसरण पर दृष्टि भी बनाये रखता है। यह समाज के आचार संहिता के नियम है। जैसे समाज में एक ही गोत्र के अंदर शादी करना वर्जित और अस्वीकृत है ‘मानव मूल्य’ विवेक द्वारा अनुमोदित समाज की वह धरणाएं हैं जो मनुष्य की जैविक आवश्यकताओं की तुष्टि के साथ-साथ उसे आत्मविकास अथवा लोक मंगल की ओर भी अग्रसर करते हैं। मूल्य वह सर्वोत्तम गुण हैं जिनका अनुसरण करने से मनुष्य समाज और राष्ट्र का उचित विकास तथा उन्नति अटल होती है। “मानव मूल्य” वह मूलाधर हैं जिनका सम्बन्ध जीवन के सम्पूर्ण आयामों तथा व्यापारों से होता है। विभिन्न रास्तों से मानव मूल्यों की प्राप्ति और शांति की स्थापना करना इन सबका लक्ष्य होते हुए भी यह किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय के धेरे में नहीं बंधते हैं। मानव मूल्य महत्व और औचित्य के घोतक होते हुये अमूर्त-मूर्त होते हैं और इनका परिणाम सुख, संतोष और आनंद में प्रतिफलित होता है। मानव मूल्य अनेक हैं जैसे : अहिंसा, आत्मविश्वास, ईमानदारी, उत्साह, उत्तरदायित्व, कर्तव्य पालन, त्याग, दया, देश भक्ति, प्रेम, विवेक, मित्राता, सद्भावना, परिश्रम, न्यायप्रियता, सत्य का पालन, समय का पालन इत्यादि।

मूल्य पतन के कुछ लक्षण

‘संसार में सब ओर है संकट की घड़ी, मानव-मूल्यों की आचरण में है आवश्यकता बड़ी।’

हमारे आधुनिक समाज की व्यवहारिक झलक हमारे विश्वास एवं मान्यताएं और स्वयं हम समाज में रह कर जो कुछ करते हैं उससे हम आधुनिक मूल्यों के आचरण एवं यथार्थ को प्रदर्शित करते हैं। परन्तु आज जो हमारा मानव मूल्यों के प्रति श्रद्धा एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण है उसको किसी के छुपाया नहीं जा सकता है। आज हमारे समाज में मूल्य पतन के सैकड़ों नहीं हजारों उदाहरण हैं, जो समाज में मूल्य पतन के साक्षी एवं मुंह बोलते प्रमाण हैं। हम प्रतिदिन समाचार पत्रों में भी ऐसी खबरें पढ़ते हैं जिनके विषय में हम ऐसा कभी सोच भी नहीं सकते। आज जिसे हम सभ्य समाज कहते हैं, उसमें से बहुत कम लोग अपने परिश्रम के बल पर धनी एवं पद के योग्य बनते हैं। अनुचित साधनों के उपयोग से लोक कुछ ही दिनों में इतनी उन्नति कर जाते हैं कि दूसरे लोग देखकर दंग रह जाते हैं। मूल्यों के पतन का सबसे प्राथमिक लक्षण आज के मानव का अति उत्तम दर्जे का स्वार्थी होना है। वह अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु कुछ वोटों और नोटों के लिए दूसरों के जीवन से खेलना भी अपना कर्तव्य समझने लगा है। नेता जो कभी कभी समानता की बात तो करते हैं, परन्तु अपने स्वार्थ हेतु समाज को भिन्न-2 जातियों में बाँट कर रखते हैं। विषमता को इतना बढ़ावा देते हैं, ताकि उनकी नेतागिरी बनी रहे। जब लोग मृतात्माओं के शोक में डूबे होते हैं, तो नेता लोग उनकी लाशों पर राजनीति करते हैं। दूसरा मुख्य लक्षण है समाज में चरित्रहीनता का बोल-बाला होना। आज समाज में बहुत ही कम व्यक्ति विश्वास के योग्य हैं। जिस पर विश्वास करो वह दूसरे पल ही ढोंगी निकलता है। चरित्रवान मनुष्य को आज अनेक अनैतिक विशेषणों के प्रयोग से अपमानित किया जाता है जबकि बुरे चरित्र वाले से सभी डरते हैं। किसी में इतना साहस ही नहीं कि वह चोर को चोर कह सके। मूल्य पतन का सबसे प्रमुख तीसरा लक्षण आज के समाज में भ्रष्टाचार का महाभूत है जो सभी की बुद्धि को नष्ट कर देता है। आज कोई भी उचित कार्य भ्रष्टाचार के बिना होना असम्भव है। भ्रष्टाचार एक ऐसा गोला बारूद है जिसके प्रयोग से मनुष्य अपने शत्रु पर क्षण भर में विजय प्राप्त कर लेता है। मूल्यों के पतन का चतुर्थ प्रमुख लक्षण राजनैतिक लोगों में सत्ता लोलुपता एवं असंतुष्टि है। सत्ता लोलुपता नेताओं व लोगों के भावों में इतनी गहरी उत्तर चुकी है कि वह इसके बिना अपने आप को निर्जीव ही समझने लगते हैं। वह इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अन्य लोगों के जीवन को समाप्त कर देना भी एक साधरण बात समझते हैं। लक्ष्य पूर्ति के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करना एक वैधानिक रीति बनता जा रहा है। समाज में मानव मूल्यों के पतन का पंचम लक्षण है, अति कर्तव्यहीनता, अनुशासनहीनता तथा काम की अपेक्षा बातें अधिक करना आदि। झूठे बहाने से मनोरंजन और दूसरे को उल्लू बनाना ही बुद्धिमता का कार्य समझा जाता है। आज के समय में कार्यालयों में कितने मिथ्या आंकड़े एकत्रित किये जाते हैं जिनसे लाभ की अपेक्षा हानि निश्चित होती है। अपने सुख की अपेक्षा दूसरे के सुख-दुःख का रंच मात्र भी ध्यान नहीं किया जाता है। असमानता तथा हिंसा का राज्य हैं। आज महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में कितनी दुःखदायी घटनाएँ घटती हैं। रैगिंग का महाभूत कई छात्रों के लिए कालजयी साबित होता है। लड़कियों पर तेजाब डालने का क्या औचित्य है?

समाज में मानव मूल्यों के पतन का स्तर इतना गिर चुका है कि यदि इसका समय पर समाधन न ढूँढ़ा गया तो वह दिन दूर नहीं जिस दिने हम पुनः गुलाम हो जायेंगे। आधुनिक समाज में इससे अधिक मूल्यों के पतन के और लक्षण क्या हो सकते हैं, जिसमें कलयुगी पुत्र पिता को अथवा पिता पुत्र को अपने स्वार्थ हेतु गोली का शिकार बना देते हैं। हम प्रतिदिन समाचार पत्रों में ऐसी खबरें पढ़ते हैं कि देश के बड़े-बड़े अधिकारी धन के लालच में दूसरे देशों को अपने राष्ट्र की गुप्त सूचनायें देने में संलिप्त पाए गये हैं और धन प्राप्ति के लिए कबूतरबाजी भी करते हैं। आज की संतान अपने माता-पिता गुरुओं तथा बड़ों का आदर सच्चे हृदय से नहीं करती है। सत्य सदैव कड़वा होता है, परन्तु यदि भविष्य को ध्यान में रख कर विवेक से काम लिया जाये तो प्रत्येक स्थिति में सत्य के पालन का परिणाम शुभ ही होगा।

हमारे समाज में और भी मूल्य पतन के अनेक कारण हैं परन्तु उपरोक्त चर्चित लक्षणों का इतना प्रकाश है कि आधुनिक मानव इनकी चकाचौंध के प्रभाव से अपने मार्ग से भटक जाता है। ऐसी स्थिति में केवल गुरुजन वर्ग ही अपने श्रेष्ठ चरित्र एवं व्यवहार द्वारा समाज और छात्रों का उचित मार्ग दर्शन कर सकता है। इस दृष्टि से मूल्यों के प्रशिक्षण में अध्यापकों की नियति का महत्वपूर्ण स्थान है।

अध्यापकों द्वारा विद्यालयों में मूल्यों का प्रशिक्षण

घर में तो बच्चों के माता-पिता मूल्य प्रशिक्षण का काम करते हैं, परन्तु विद्यालयों में यह उत्तरदायित्व अध्यापकों पर आ जाता है। विद्यालय का प्रशासन पाठ्य-पुस्तकों, शिक्षा व शिक्षण, शिक्षा विधियाँ तथा उसकी मित्र मण्डली द्वारा उनके मूल्यों को विद्यालय में प्रमुख एवं उचित स्थान मिल जाता है तो उसका विकास संतुलित और निरंतर होता है। यदि उसे विद्यालय के उत्तरदायित्व के कार्यों में भागीदार बनाया जाता है तो उसमें सहयोग तथा कर्तव्य भावनाओं के मूल्यों का सहज में ही अनुस्यूतिकरण होगा। इसलिए शिक्षा के संचालकों को चाहिये कि वह विद्यालयों में सुयोग्य, चरित्रवान् तथा परिश्रमी अध्यापकों की नियुक्ति करें, न कि उन लोगों से अध्यापक का कार्य करवाया जाये जिनकी शिक्षण में न तो कोई रुचि हो अथवा और कोई कार्य न मिलने के कारण अध्यापक बने हों। अध्यापक ऐसे होने चाहिये जो विद्यालय के सभी बच्चे को अपने बच्चों के समान समझें। उनसे स्नेह भरपूर व्यवहार करें और उन्हें कभी भी तू शब्द से सम्बोधन न करें। अध्यापन करते समय उनके हृदय को स्पर्श करें। पाठ्य पुस्तकों केवल ज्ञानवर्धक न होकर नैतिक शिक्षापद्र भी होनी चाहिए। समाज कहता है वह अध्यापक हमें स्वीकार नहीं, जिसके व्यवहार में सदभाव नहीं।

अध्यापक विद्यालयों में छात्रों के पाठ्य विषयों की शिक्षा के अतिरिक्त किसी ऐसे विषय पर बात ही नहीं करते, जिससे उनमें मानव-मूल्यों का विकास हो। अध्यापक मूल्यों की शिक्षा देने की अपेक्षा इतना कहकर ही संतुष्टि कर लेते हैं कि इनको भविष्य में स्वतः ही सब पता चल जायेगा, जो कि छात्रों से एक अन्यायपूर्ण व्यवहार है। इस बात को गाँधी जी ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है “क्या प्रोफेसरों और शिक्षकों का भी यह काम नहीं कि वे अपने विद्यार्थियों में शराफत लाने की उतनी ही चिन्ता रखें जितनी वे अपने पाठ्यक्रम के विषयों में उन्हें तैयार करने की करते हैं?”³ उन्होंने यह बात बड़े क्षोभ से कही कि “अध्यापक के रुप में हम छात्रों के चरित्र निर्माण की तो बात ही नहीं सोचते।” गाँधी जी जीवन में मानव मूल्यों को कितना महत्व देते थे, निम्नलिखित पंक्तियों से सिद्ध हो जाता है। “अध्यापक चाहे कोई भी विषय क्यों न पढ़ा रहा हो, प्रकृति के मूल-भूत सत्य और अटल नियमों से छात्रों को परिचित करवाने का उसका प्रयास होना चाहिये। वह विद्यार्थियों से अदम्य इच्छा शक्ति, कोमल अन्तरात्मा सभी प्रकार के पापचार के प्रतिघटणा तथा दूसरों को अपने ही समान आदर करने की शिक्षा दें। शिक्षा चाहे प्राथमिक, माध्यमिक अथवा डिग्री स्तर की हो, शिक्षा कहलाने की तभी अधिकार रखती है, जब वह अपने लक्ष्य को पूरा करे।”⁴ छात्रों के जीवन में अध्यापक के लिए सत्य तथा शुद्धता मूल्यों का अनुस्यूतिकरण करना कितना आवश्यक है निम्नलिखित पंक्तियों से प्रमाणित हो जाता है, “यदि शिक्षक अपने विद्यार्थियों को संसार का सारा ज्ञान प्राप्त करें लेकिन सत्य और शुद्धता की भावना उनमें पैदा न करें तो कहा जायेगा कि उन्होंने विद्यार्थियों को धोखा दिया है और उन विद्यार्थियों को ऊँचा उठाने की बजाय भयंकर विनाश के मार्ग पर धकेल दिया है।”⁵ अतः अध्यापकों को भी समाज में अपना स्तर एवं आदर रखने के लिए आवश्यक है कि वह छात्रों को मूल्यों की शिक्षा सर्व कल्याण हेतु अवश्यक

दें। यह अनिवार्य है कि अध्यापक के कर्म तथा वचन में कोई अंतर नहीं होना चाहिये। इसीलिए अध्यापकों को चाहिए कि वह अध्यापक के कार्य को एक व्यवसाय, नौकरी तथा जीविका का साधन न मान कर बल्कि एक अति पवित्र कर्म समझ कर करें जिससे सर्व कल्याण ओर सुसंस्कृत मानव का निर्माण हो। छात्रों में मानव-मूल्यों का अनुस्यूतिकरण राष्ट्र एवं समाज के भविष्य को ध्यान में रखकर करें और अपनी आत्मा को बातों की अपेक्षा अपने कार्यों के परिणामों पर संतुष्ट करें।

निष्कर्ष

हम चाहे जितने भी उत्तम से उत्तम भाषण, सत्संग, प्रसंग व प्रवचन सुनें, जितना भी अधिक से अधिक भिन्न-2 भाषाओं में श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन करें, चाहे तर्क-वितर्क, विचार-विमर्श करें, चाहे एक से मीनार की अपेक्षा सौ सेमीनारों का बड़े बड़े नामी ग्रामी विद्वानों की भागीदारी से आयोजन करें, अथवा चाहे आप कुछ भी कर लें, परन्तु हमारा सुधार तब तक, सम्भव नहीं है जब तक हम स्वयं सुधरने के लिए तैयार न हों। यहां यह उक्ति बड़ी सार्थक है कि आप घोड़े को पानी पिलाने के लिए तो ले जा सकते हैं परन्तु पानी पीना उसकी इच्छा पर निर्भर करता है। सभी विषयों का अपना अपना महत्व है परन्तु “आपका” मन और आत्मा से दृढ़ संकल्पित होकर सुधरने के लिए स्वयं आगे आना सबसे महत्वपूर्ण है और सबसे बड़ी बात यह है कि तब तक डटे रहना जब तक आपका बांछित सुधार परिपक्व न हो जाए। ऐसा तभी सम्भव है यदि हम अपने व्यक्तिगत जीवन में मानव-मूल्यों के आचरण के प्राथमिकता देंगे। ध्यान में रहे कि आपके लिए कार्य क्षेत्र में ईमानदारी ही एक ऐसा प्रकाशपुंज है जो जीवन में सदैव आपको उन्नति और शांति प्रदान करता रहेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- पाण्डे, गोविन्द चन्द (1973)- मूल्य मीमांसा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर संस्करण, पृष्ठ संख्या 31
 डा० नागेन्द्र (1978)- भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 160
 संस्कृति (अक्तूबर-दिसम्बर-1984), अंक-4, पृष्ठ संख्या 4-5 शिक्षा तथा संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार, नई-दिल्ली
 वही
 वही

नारी संवेदना और मानवाधिकार का हनन : प्रेमरोग¹

आशुतोष वर्मा^{*} एवं डॉ. संजीव गुप्ता^{**}

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित नारी संवेदना और मानवाधिकार का हनन : प्रेमरोग' शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखक आशुतोष वर्मा एवं संजीव गुप्ता घोषणा करते हैं कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेते हैं, क्योंकि हमने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देते हैं। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह हमारी मौलिक कृति है। हम शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देते हैं। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देते हैं।

प्रेमरोग (1982) फिल्म एक साथ कई सवालों समस्याओं से रुबरू कराती है। यूं तो यह एक निश्चल, भोली, सीधी-सादी सामंती परिवार की लड़की की कहानी है, जो किशोरावय को लांघती यौवन के द्वार पर दस्तक दे रही है जिसमें बचपन अभी भी है। लाड-दुलार और सम्पन्नता के चलते जिसने स्वप्न में भी अभाव नहीं देखे और तो और जमीन पर नंगे पांव तक नहीं धरे कभी। इस फिल्म में 'राजकपूर' साहब ने कई सामाजिक विसंगतियों, रुढ़ियों, परम्पराओं, वर्ग-संघर्ष, स्त्री की दुर्दशा, ठकुराई, अच्याशी, झूठे अहंकार, भ्रष्टाचार पर प्रहार किया है। केवल प्रहार ही नहीं किया बल्कि उससे निजात पाने का हल भी दिखाया गया है। कई वजहों से यह फिल्म सर्वश्रेष्ठ कहीं जा सकती है। इसका मैसेज बहुत दमदार है। सशक्त और चुस्त पटकथा है, संवाद अदायगी प्रभावी है, छायांकन, दृश्यांकन सम्मोहक है। मनमोह लेने वाले, कशिश पैदा करने वाले गीत, उनका बेजोड़ संगीत, पात्रों का अकृत्रिम अभिनय तथा मानवाधिकारों के प्रति जागरूक करती यानि सब मिली-जुली परिणति यह है कि फिल्म देखने के अर्से बाद भी यह फिल्म दिल-दिमाग पर कब्जा किए रहती है।

कहानी की शुरूआत होती है सूर्योदय के साथ जर्मींदार घराने के दो भाइयों में से छोटे ठाकुर की एकमात्र टीह है मनोरमा। बड़े ठाकुर यानि जर्मींदार साहब की दो संतान हैं- एक लड़का और एक लड़की। रमा इन सबमें बड़ी है। चहल-पहल के साथ दिन की शुरूआत होती है। हवेली में आया गोदावरी ने बड़ी मनुहार से रमा को जगाया, रमा यानि मनोरमा अपनी बाल सखी से सुनती है कि देवधर शहर से कई वर्षों बाद गाँव आ रहा है। वह देवधर को स्टेशन लेने स्वयं जाती है, वह देवधर को बुझू समझकर उसे बेवकूफ बनाना चाहती है लेकिन हर बार वह अपने ही दांव में फंस जाती है। इसी नादानी और भोलेपन ने देवधर को उसके प्रति आकर्षित कर दिया। वह मन ही मन बतें रहस्य आदि खोदकर पूछती रहती है। रमा की सखी जो देवधर की मुंहबोली बहन है वह देव को बताती है कि प्रेम और विवाह बराबरी वालों से ही शोभा देता है। रमा तुम्हें प्रेम नहीं करती तुम समय रहते चेत जाओ। लेकिन देवधर रमा का हाथ मांगने हवेली जाता है, वहाँ उसे मालूम होता है कि रमा को

* शोध छात्र, मा. च. रा. प. स. वि. भोपाल (मध्य प्रदेश) भारत

** सीनियर असिस्टेंट प्रोफेसर, मा. च. रा. प. स. वि. भोपाल (मध्य प्रदेश) भारत

देखने वाले आए हैं। रमा बहुत खुश है और वह देव को बताती है कि उसका होने वाला पति बहुत अच्छा है। ये बहुत बड़े जर्मांदार हैं^२ देव पर जैसे पहाड़ टूट गया वह शहर वापस जाना जाता है लेकिन रमा उसे अपने व्याह तक रोक लेती है। शादी के बाद देव शहर चला जाता है।

ससुराल में एक रात रुकने के बाद रमा अपने मायके आ जाती है। दो-चार दिन के बाद उसका पति उसे लेने आ रहा होता है कि उसका एक्सीडेंट हो जाता है और वह मर जाता है। रमा पर जैसे संकटों का पहाड़ टूट पड़ता है। जिन पैरों में हमेशा मखमली जूतियाँ रहती थीं वह आज पथरीली, कंटीली राहों पर चलने को विवश हैं, उसी घर में जहाँ वह आँख का तारा थी उसी घर में जहाँ उसकी माँ, बड़ी बहन, ठकुराइन तथा पूरा परिवार शानो-शौकत और राजसी ठाठबाट से रह रहे थे वही एक सादे कमरे में उसका बसेरा था केवल एक समय का भोजन वह भी अपने हाथ का बना हुआ। इसी बीच रिश्तेनाते की विधवाएँ जुर्टीं, नाई उस्तरा लेकर बुलाया गया। बड़ी ठकुराइन ने रमा को पटरे पर बैठने के लिए कहा कि अब तू विधवा है तेरे बाल कटेंगे। आप सब क्यों मेरे बाल कटवाना चाहती हैं, मैं जानबूझ कर विधवा नहीं हुई^३ लेकिन नाई उस्तरा लेकर आगे बढ़ गया उसी समय रमा की जेठानी आई और उसे ससुराल ले गई। ‘राज’ साहब ने फिल्म के माध्यम से स्त्री मानवाधिकारों के प्रति हो रही बर्बरता को पेश किया है, क्या विधवा स्त्री के कोई अधिकार ही नहीं रह जाते, उसे इस तरह से अपमानित क्यों किया जाता है? स्वयं विचार कीजिए!

रमा को पूरे घर की मालकिन बना दिया जाता है, रमा भी जेठानी के नन्हे बच्चों से हिलमिल गई लेकिन दुर्भाग्य अभी और था। एक रात जेठानी किसी उत्सव में गई थी, जेठ ने रमा की अस्मत लूट ली। रमा अपने मायके आ जाती है उसके अधिकारों को एकबार फिर झङ्कियोरा जाता है। रमा अपने घर में विधवा जीवन की बंदिशों में सांस लेने लगती है। देवधर को जब रमा की दुर्दशा का पता चलता है तो वह शहर से गाँव वापस चला आता है। रमा मंदिर जा रही होती है तभी उसके नंगे कोमल पैर में कंटीली झाड़ी का काँटा लग गया, सामने से आते देवधर ने उसके पैरों से काँटा निकाला। अब तक के टूटे बड़े विपत्तियों के पहाड़ों तले जो समझ ही नहीं पाई कि उसका अपराध क्या है, क्यों लोग उसके साथ ऐसा कर रहे हैं।

अचानक अपने दुःख-सुख के साथी को सामने देखकर रमा फूट-फूट कर रोने लगी। देवधर ने उसके आँसू पोछे। इधर-उधर की बातों से उसका जी बहलाया और रमा अपने सारे दुःख भुलाकर हंस पड़ी अचानक उसे याद आया कि वह आज कितने दिनों के बाद हंसी है।

देवधर हवेली आने पर रमा की असली दुर्दशा देखता है। राजकुमारी की तरह जीवन जीने वाली रमा आज एक दासी से भी गया गुजरा जीवन जीने को अभिशप्त है। वह रमा के कमरे में ही था जब रमा की माँ रमा से पूछने आई कि आज खीर बनी है तेरे लिए ले आऊँ? वह पूछ रही थी कि बड़ी ठकुराइन ने ताना मारा- ‘हाँ हाँ लो खालो खीर पूँड़ी, ना जाने क्यों इन विधवा को चटोरापन लगा रहता है।’ तभी रमा की माँ देवधर को कमरे में ढकी थाली खोलकर दिखाती है दो सूखी मोटी रोटियाँ और उबली सब्जी है। रमा की ऐसी हालत, देवधर घर आकर बहुत सोचता-विचारता है कि ऐसी कष्टमय जिंदगी वह रमा को जीने नहीं देगा। वह प्रयास शुरू कर देता है, एक दिन रमा मंदिर जा रही होती है तो देवधर उसे चप्पल लाकर देता है। रमा मना कर देती है। यह सब देख गाँव वाले दोनों पर ऊंगली उठाते हैं, बात इतनी बढ़ती है कि देव सबके सामने विधवा रमा से व्याह करने को कह देता है।

आग की तरह यह खबर हवेली पहुँचती है। रमा पर पाबंदी लगा दी जाती है। लेकिन उसकी माँ रमा को समझाती है, तू देव से प्रेम करती है यह बात रमा को समझ में आने लगती है। उधर छोटे ठाकुर के बुलावे पर रमा का जेठ उसे विदा कराने आता है लेकिन रमा की माँ बड़े ठाकुर को रमा के जेठ की करतूतें बता देती है और कहती है बेटी को कसाई के हाथों देने से अच्छा उसकी बोटी-बोटी काटकर मार दिया जाए।

बड़े ठाकुर देवधर को रमा को भगाकर ले जाने को कहते हैं लेकिन देवधर कहता है कि मैं भागकर व्याह नहीं करूँगा ब्लकि आप कन्यादान करेंगे^४ तभी व्याह होगा। इधर रमा के जेठ के साथ छोटे ठाकुर ने देवधर को घेरकर बाँध दिया और आग लगा देने का हुक्म दिया। रमा के जेठ ने छोटे ठाकुर को गोली मार दी और सभी दुश्मनों को मारने का आदेश देकर आग से घिरी रमा को छुड़ाकर अपने साथ ले जाने लगा, देवधर से उसका मुकाबला हुआ और बड़े ठाकुर ने जेठ को गोली से उड़ा दिया। अंत में रमा और देवधर विवाह बंधन में बँध गए^५

राजकपूर अपनी फ़िल्मों में बहुत कुछ प्रतीकों में कहते हैं^२ रमा को उसका पति लेने आ रहा है। उसका एकसीडेंट होता है और उधर शृंगार कर रही रमा के हाथ की चूड़ियाँ टूटती हैं। हाथ से खून निकलता है, उसके शृंगार का भी खून हो जाता है। इसी तरह देवधर भी जब रमा को बंधनों से मुक्त करवाने की सोचता है तब ठीक सामने विवेकानन्द की फोटो लगी होती है यानि वह दृढ़ संकल्प करके मुक्ति के लिए संघर्ष करेगा। स्वस्थ प्रगति उन्मुख समाज को विकसित करेगा।^३

राजकपूर ने अपनी फ़िल्म में महिला अधिकारों के बारे में सजगता से प्रश्न उठाया है। एक विधवा स्त्री के मानवाधिकारों का हनन हर कदम-कदम पर हो रहा है। यह फ़िल्म में बहुत कठोरता से दिखाया गया है। जैसे विधवा होने के बाद मुण्डन करवाना, चप्पल न पहनना, खुद खाना बनाना आदि। अंधविश्वास को इस फ़िल्म में दिखाया गया है जैसे- किस तरह से पंडित ग्रहों का चक्कर बताकर जनता से पैसे लूटता है आदि। संवाद बेहद मजेदार हैं। कभी-कभी चुभते हुए तो कभी-कभी अपने अधिकारों की याद दिलाते हुए।

सन्दर्भ सूची

^१मुख्य कलाकार : पद्मिनी कोलाहपूरी, तनूजा, शम्मीकपूर, ऋषि कपूर, निर्देशक-राजकपूर

^२मूल फ़िल्म प्रेमरोग से

^३वही

^४वही

^५[http://en.wikipedia.org/wiki/Premrog\(1882\)](http://en.wikipedia.org/wiki/Premrog(1882))

^६<http://en.wikipedia.org/wiki/Raj Kapoor>

^७[http://en.wikipedia.org/wiki/Premrog\(1882\)](http://en.wikipedia.org/wiki/Premrog(1882))

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक [वस्तु एवं शिल्प वैशिष्ट्य के परिप्रेक्ष्य में]

डॉ. नमिता जैसल*

लेखक का धोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित सुरेन्द्र वर्मा के नाटक सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक [वस्तु एवं शिल्प वैशिष्ट्य के परिप्रेक्ष्य में] शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका मैं नमिता जैसल धोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

सुरेन्द्रवर्मा बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व के धनी साहित्यकार हैं, वे सफल नाटककार, कहानीकार, एकांकीकार, रंगकर्मी एवम् स्वतंत्र चिन्तक के रूप में ख्याति प्राप्त हैं। उन्होंने साहित्य की सभी विधाओं को अपनी लेखनी से समृद्ध किया है, फिर भी विशेष आकर्षण नाट्य साहित्य की ओर रहा है। उन्होंने अपने नाटकों में नवीन प्रयोग किये हैं, जो कि सराहनीय है। नवीन प्रयोगों के कारण उनकी गिनती साठोत्तरी प्रयोगशील नाटककारों में होती है।

सुरेन्द्रवर्मा ने अपने नाटकों में पौराणिक और ऐतिहासिकता के माध्यम से समसामयिक समस्याओं को उजागर किया है, उनके लिए इतिहास केवल आधार मात्र है। ऐतिहासिक सन्दर्भों के द्वारा समकालीन जीवन के सार्थक पक्ष को प्रस्तुत करना प्रमुख उद्देश्य रहा है। वर्मा जी ने अपने नाट्य-रचनाओं में जो कुछ कहा या लिखा वह उनके 'स्व' की अनुभूति है। वैसे लेखक के रूप में उनका कहना है, "मैं उन्हीं चीजों के बारे में लिख सकता हूँ जो मुझे उद्देलित करती हैं। वह किसके लिए है- ये जानना मेरे लिए मुश्किल हैं शायद यह उतना महत्वपूर्ण भी नहीं।"

सुरेन्द्रवर्मा ने अपने नाटकों में विसंगतिबोध, अकेलापन, पारिवारिक सम्बन्धों का विघटन, दाम्पत्य-जीवन, यौन सम्बन्ध व्यंग जैसे चर्चित एवम् उर्वर विषय को रखा है। विषय वस्तु की विविधता तथा रंगमंचीय नवीनता के कारण उनके नाटक अधिक संवेदनशील एवम् प्रभावी है भले ही उनके नाटकों का आधार ऐतिहासिक, पौराणिक प्रतीत हो, किन्तु इनकी आत्मा आधुनिक है।

सुरेन्द्रवर्मा का 'सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक' नाटक 1976 में प्रकाशित तीन अंकीय, साहसिक एवम चर्चित नाटक है। यह नाटक ऐतिहासिक कथा के माध्यम से स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को एक विशेष कोण से परखने का आग्रह करता है। इसमें ओक्काक मल्ल राज्य का शासक है; वह नपुंसक है। शीलवती का विवाह ओक्काक से हुआ है जो संतान तो

* [पी.डी.एफ.] हिन्दी विभाग [कला संकाय] काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक [वस्तु एवं शिल्प वैशिष्ट्य के परिप्रेक्ष्य में]

दूर रानी को शारीरिक सुख देने में असमर्थ है। रानी शारीरिक सुख के अभाव में राजा तथा राज्य घराने की मर्यादा को सर्वोपरि मानकर जीवन यापन कर रही है। मल्लराज्य की यह परम्परा है कि प्रत्येक राजा को अपने शासन के पाँच वर्ष पूरे होते ही उत्तराधिकारी की घोषणा करनी पड़ती है। राजा ओक्काक के पाँच वर्ष पूरे होने वाले हैं। लेकिन उनके कोई संतान नहीं है। अमात्य परिषद को विश्वास है उत्तराधिकारी के अभाव में प्रजा के असंतुष्ट हो जाने की आशंका है। सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल की सलाह से ओक्काक की पत्नी शीलवती को नियोग प्रथा का पालन करने हेतु आदेश दिया जाता है। जिसमें रानी मल्लराज्य को उत्तराधिकारी देने के लिए वह राजप्रांगण में जयमाला लेकर उतरेगी और किसी भी पुरुष को उपपति के रूप में चुनाव कर उसके साथ चली जायेगी।

उत्तराधिकारी के लिए अपनी पत्नी को पर पुरुष के पास भेजना ओक्काक को आत्मग्लानि से भर देता है। वह अमात्य परिषद के बातों से असहमति प्रकट करते हुए कहता है, “लेकिन मुझे यह किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं कि मेरा वंश हमेशा के लिए लज्जाजनक उदाहरण बने। आज से सैकड़ों वर्ष बाद लोग धिनौने आनंद के साथ इस बात को दोहरायें कि मल्लराज्य का शासक ओक्काक नपुंसक था उसकी पत्नी गर्भधारण करने के लिए राजप्रसाद से बाहर गयी थी।”² नियोग प्रथा के माध्यम से वर्मा जी ने राजनैतिक सन्दर्भ को भी छुआ है।

मंत्रिपरिषद के सदस्य शासक की कमजोरी को जानकर अपने अधिकार को सर्वदा सुरक्षित रखने के लिए शासक पर अनेक प्रकार से दबाव डालते हैं, ताकि शासक की कमजोरी का लाभ उठाकर इतिहास में अमर हो जाए। मल्लराज्य का शासक ओक्काक नपुंसकता के उत्तराधिकारी देने में असमर्थ है। उसकी इस कमजोरी का फायदा अत्यंत कूटनीति तरीके से मंत्रिपरिषद उठाती है। अपनी परिषद के स्थायित्व के लिए, किसी भी प्रकार की कठिनाई न आए उससे बचने के लिए मंत्रिपरिषद शीलवती को नियोग प्रथानुसार गर्भधारण करने का आदेश देती है और अपनी बात मनवाने के लिए अनेक तर्क देती है। माहामात्य”。....आजकल भी नियोग की प्रथा है। दो वर्ष पहले कुंडिनपुर और तीन वर्ष पहले अवन्ती राज्यों में इसी प्रकार उत्तराधिकारी प्राप्त किया गया है।” राजपुरोहित : इतिहास साक्षी है कि हमारे देश में प्राचीन काल से ही यह रास्ता अपनाया गया है। एक-एक पाण्डव का जन्म नियोग के द्वारा ही हुआ था। उनमें से कोई भी अपने पिता की संतान नहीं था।”³

पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री जीवन की कैसी विडम्बना है कि पुरुष अपने अनुसार स्त्री जब चाहे अयोग्य पुरुष से विवाह करने के लिए मजबूर करता है और जब चाहे अपने लाभ के परपुरुष से सम्बन्ध बनाने के लिए कहता है। क्या इन सब क्रियाओं में स्त्री की भावनाओं की कोई अहमियत नहीं। इसलिए राजपुरोहित और महामात्य अपने लाभ के लिए शीलवती से नारी जीवन की सार्थकता को समझाते हुए कहते हैं :

महामात्य : नारीत्व की सार्थकता किसमें है.....(विराम) क्या आपको अपना यह अभाव नहीं कसकता?.....क्या आपके मन में कभी यह इच्छा नहीं जागती कि आपके कक्ष में एक शिशु किलकारी मारता हुआ दौड़े? दर्पण जैसे स्वच्छ फर्श में अपनी परछाई देखकर चमत्कृत हो?.....हँसे तो पल्लव से कोमल अधरों के पीछे नन्हे-मुन्ने दाँत चमके.....रोए, तो आँखों से मोती झरे.....अपनी तोतली बोली में आपको पुकारे ज्ञाकृत हो उठे.....वह सम्बोधन, जो कहे तो वह सकते हैं कि अब तक सारी मानवीयता, सभ्यता और संस्कृति का बीज है।”⁴

महामात्य के अनुसार नारीत्व की सार्थकता सिर्फ माँ बनने में है। इसलिए शीलवती को नियोग-प्रथा स्वीकार होगा। तब शीलवती महामात्य से अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हुए कहती है, “एक स्त्री की दृष्टि से आप नहीं देख सकते।... बिल्कुल अजनबी पुरुष के साथ।”⁵ राजपुरोहित और महामात्य शीलवती को राज्य के उत्तराधिकारी प्राप्त करने का जरिया भर मानते हैं।

महामात्य की बातों को सुनकर बुनियादी सवाल यह उठता है कि बरसों से पुरुषत्वहीन पति को झेलने के बाद, मातृत्व के सुख में नारीत्व की खोज क्या व्यवहारिक दृष्टि से सही है। क्या स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का आधार मातृत्व की अभिलाषा है। उसमें उसकी भावना का कोई महत्व नहीं है। पति-पत्नी की इच्छा न होते हुए भी अमात्य परिषद के समक्ष रानी शीलवती और राजा ओक्काक को झुकना पड़ता है। मंत्रिपरिषद द्वारा राज्य में यह घोषणा करवायी जाती है.....कि आज से ठीक एक सप्ताह बाद....पूर्णमासी की सन्ध्या को.....राजमहिषी शीलवती.....धर्मनटी बनकर.....राजप्रांगण में उतरेगी। मल्लराज्य के हर नागरिक को.....प्रत्याशी बनकर.....पधारने का आमंत्रण है। राजमहिषी शीलवती..... अपनी इच्छा के अनुसार

किसी भी नागरिक को.....एक रात के लिए.....सूर्य की अंतिम किरण से.....सूर्य की पहली किरण तक.....उपपति के रूप में चुनेगी।”⁶

शीलवती धर्मनटी बनकर उपपति के रूप में अपने पुराने प्रेमी आर्य प्रतोष का वरण करती है। प्रतोष के साथ रात गुजारने के बाद शीलवती का जीवन-दर्शन, तन-मन का इतिहास बदल जाता है। उसके लिए मातृत्व सुख अगौण हो जाता है। शारीरिक सुख गौण (मुख्य) हो जाता है। तब शीलवती महामात्य से कहती है, “उस आवेश और अकुलाहट में... उस उत्तेजना और उन्माद में....उन सांसों और उच्छवासों में सारे शरीर में दौड़ती हुई बिजली की तरंग-जैसी उस तृप्ति के साथ कौन सी स्त्री है तुम्हारे संसार की जो होने वाली सन्तान का ध्यान कर पाती हो?.....नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, महामात्य! है केवल पुरुष संयोग के इस सुख में....मातृत्व केवल गौण उत्पादन है.....जैसे दही से निकलता तो मक्खन है, लेकिन तलहट में थोड़ी सी छाछ भी बच जाती है।”⁷ शीलवती जिस शारीरिक सुख से अभी तक वंचित थी। उस सुख को प्राप्त करने पश्चात् आनंद की उस पराकाष्ठा को आपे में नहीं रहने देती। सभी से खुलकर इसी आनंद की चर्चा करना चाहती है, तो उस समय ओक्काक-शीलवती पर मर्यादाओं का बन्धन लगाकर मर्यादित करना चाहता है। उस समय वह मर्यादापरक सामाजिक मूल्य-मानकों के प्रति विद्रोहिणी हो उठती है- ‘‘निभाई है मैने.....और पाँच वर्ष तक मर्यादा निभाने में उतना संतोष नहीं मिला, जितनी तृप्ति एक रात में मिली है।.....बोला.....किसे मानू? किसको दूँ महत्व? कल रात बड़ी क्रान्ति हुई मेरे जीवन में.....मेरे तन-मन का इतिहास ही बदल गया है।’’⁸

भारतीय समाज में पुरुष स्त्री को सदैव अपनी इच्छानुसार ढालने की कोशिश में रहता है। जब वह जैसा चाहे स्त्री उसी के अनुरूप बन जाए। भले ही मर्यादा के दायरे में न आता हो। मर्यादा का दायरा भी पुरुष द्वारा सुनिश्चित की जाती है। जब शीलवती द्वारा नियोग के लिए भेजा जाता है तो उस समय मर्यादा का उलंघन नहीं होता है। जब शीलवती (व्यक्तिगत) शारीरिक-सुख पाना चाहती है तो वही लोग उसे मर्यादा, शील को सीख देते हैं। तब वह नैतिकता, मर्यादा और सामाजिक नियमों की दुहाई देने वाले महामात्य, राजपुरोहित और महाबलाधिकृत से कहती है, “महामात्य! इन खोखले शब्दों का जावू टूट चुका है अब।.....मर्यादा!.....धर्म!.....शील!.....वैवाहिक बन्धन.....सब मिथ्या!.....सब आडम्बर.....सब पुस्तकीय!.....लेकिन मुझे पुस्तक नहीं जीना अब।.....मुझे जीवन जीना है।’’⁹ साथ ही वह व्यक्तिगत सुख को महत्व देते हुए कहती है, ”जब आत्मसंतोष की अंधी दौड़ हो उसकी मांगे भी उतनी उलझी हुई.....पूर्ति के लिए एक से अधिक व्यक्ति चाहिए.....किसी से समाज में स्थान, किसी से भौतिक सुविधाएँ, किसी से भावना की तृप्ति.....किसी से शरीर का सुख।’’¹⁰ इस तरह से शीलवती ओक्काक का दाम्पत्य जीवन डगमगा जाता है।

शीलवती जब संस्थानों के भीतर थी। तब वह सिर्फ स्वतंत्र होना चाहती थी। लेकिन जब घर की दहलीज पार की, उच्छृंखल हुई। तब से वह किसी भी चीज पर समझौता नहीं करना चाहती। बल्कि अपने अधिकारों के प्रति ज्यादा से ज्यादा आक्रामक रूप से सचेत हो गयी। उसे स्वनिर्भरता, भौतिक समृद्धि, शारीरिक सुख, भावनात्मक साहचर्य, सामाजिक प्रतिष्ठा और मानसिक शान्ति सब कुछ साथ चाहिए। शीलवती इस पूँजीवादी संस्कृति में उपयोग होने का विरोध करती है। क्योंकि एक अतिवाद से ही दूसरे अतिवाद का जन्म होता है। डॉ. सुन्दरलाल कपूरिया के शब्दों में, “सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक” स्त्री-पुरुष के प्रेम सम्बन्धों को संवेदना के धरातल पर उजागर करता है, अतः इसमें नर-नारी सम्बन्धों, नारीत्व की सार्थकता, मातृत्व के महत्व आदि पर खुली बहसे हैं, सम्भोग के उन्मुक्त चित्र हैं- दूसरे शब्दों में बौद्धिकता का खुलापन है, जो आधुनिकता के नियामक बिन्दु हैं।’’¹¹

मोहन राकेश ने जिस परम्परागत नाट्य-धारा को तोड़कर कथ्य और शिल्प की दृष्टि से नया प्रयोग किया। उसे पूर्णता प्रदान करने के लिए अपनी प्रयोगधर्मिता तथा वैचारिक विस्फोट से वर्मा जी ने समृद्ध किया। इन्होंने ऐतिहासिक और समसामयिक कथ्य के द्वारा नित नए रंग प्रयोग किये हैं। इनकी भाषा अपने परिवेश और पात्रों की मनः स्थिति को व्यक्त करने में पूरी तरह से समर्थ है। इन्होंने छोटे-बड़े संवाद, अधूरे वाक्य, बिम्ब और प्रतीक के माध्यम से आधुनिक जीवन की विसंगति को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक नाटक की भाषा अत्यंत सुगठित है। जो पूरी तरह से कसी हुई, हरकत की भाषा है। इस नाटक के भाषा के सम्बन्ध गोविन्द चातक की टिप्पणी सटीक लगती है- ‘‘नाटक की भाषा जीवन

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक [वस्तु एवं शिल्प वैशिष्ट्य के परिप्रेक्ष्य में]

की भाषा है” जिसके साथ मानव मन की भावमयी अनुभूतियाँ, मुद्राएँ, क्रियाएं और स्थितियाँ सदा जुड़ी होती है; इसलिए उसमें किताब को भाषा से अलग संवेदना के स्वरों की अनुगूंज निहित होती है जो अभिनेता की उद्भावनाओं से जीवन्त हो उठती है।¹²

सुरेन्द्र वर्मा जी ने कथ्य के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। सांस्कृतिक-ऐतिहासिक वातावरण के लिए शासन व्यवस्था, महादेवी, अमात्य-परिषद, राजमहिषी, महाबलाधिकृत, दण्डनायक, अन्तःपुर, वापिका कचुंकी, प्रतिहारी, उत्मूक, तोरण, स्तम्भ, वंदनवार, मण्डप, द्रोणी, आसव, आपानक मदिरा, चषक, गवाक्ष इत्यादि।

इस नाटक की भाषा पात्रों के तनाव और त्रासदी को उद्घाटित करने में समर्थ है। उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं, जब महामात्य शीलवती से मातृत्व की ओर संकेत करते हुए कहता है, “एक प्रक्रिया से निकलने भर की बात है.... ..नारीत्व की सार्थकता मातृत्व की तृप्ति।”¹³ ओक्काक के अन्तर्मन की पीड़ा उसके शब्दों में प्रकट होती है, “मैंने कहा क्या है?....सीधा-सादा प्रश्न पूछ रहा हूँ कि प्राथमिकता किसे दोगी?.....स्वास्थ्य को.....या सौन्दर्य को..... या रंग को?....?”¹⁴

इस नाटक के संवाद अत्यधिक प्रभावशाली हैं। जो पात्रों के मनःस्थिति को प्रभावशाली ढंग से उजागर करती है। ओक्काक के संवादों में पुंसत्वहीनता से उत्पन्न एक अधूरेपन का अहसास, अपराध भावना, व्यर्थ का आक्रोश, विवशताजन्य झुंझलाहट, उखड़ापन है तो शीलवती के संवादों में एक संस्कारगत स्वीकृति-समझौते की संयमित शब्दावली, सम्पूर्णता के अनुभव में तीव्रता से उत्पन्न आक्रामक भाषा और आन्तरिक शारीरिक अनुभूति से जन्मस अत्यंत कोमल, कमनीय, स्पन्दनयुक्त भाषा या संवाद का प्रयोग हुआ है। जैसे :

प्रतोष : शीऽज्ज्ञल (विराम)

शीलवती : हूँ(विराम)

प्रतोष : चुप क्यों हो? (विराम)

शीलवती : नहीं तो

प्रतोष : कुछ बोलो

शीलवती : उहूँ (विराम)’¹⁵

सुरेन्द्र वर्मा ने जटिल परिस्थितियों को व्यक्त करने के लिए, विराम का प्रयोग किया है। ‘विराम’ इनके संवादों की चरम स्थिति है। जहाँ पर शब्द चूक जाते हैं या व्यर्थ लगते हैं वहाँ पर विराम का प्रयोग किया है।

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों की सबसे बड़ी सफलता है पात्र योजना। इन्होंने कथ्य के अनुरूप ही पात्रों का चयन किया है। ऐतिहासिक, पौराणिक नाटकों में कुछ पात्र वास्तविक है, कुछ पात्र काल्पनिक है जो ऐतिहासिकता के बजाय समसामयिक जीवन के यथार्थ को भी उजागर करते हैं। काल्पनिक पात्र भी नाटक के उद्देश्य को आगे बढ़ाने में सहयोग एवं गति प्रदान करते हैं। इनके नाटक की खास बात यह भी है कि पुरुष पात्र के बजाय स्त्री पात्र नायकत्व की भूमिका का निर्वाह करती है।

प्रस्तुत नाटक में शीलवती का सम्पूर्ण चरित्र दो रूपों में उभर कर आता है। प्रथम रूप वह जहाँ हम उसे मर्यादा में बंधी हुई पाते हैं। पांच वर्षों तक नपुंसक राजा ओक्काक के साथ संतुष्ट रही। उसे जो मिला या नहीं मिला उससे वह सामंजस्य स्थापित कर ली थी। उसने कभी भी ओक्काक से शिकायत नहीं की थी।

शीलवती-“मैंने जीवन को इस रूप को अपना लिया था.....अपना लिया है”¹⁶

शीलवती दाप्त्य-जीवन में शरीर को अत्यधिक महत्व नहीं देती है। वह व्यक्तित्व की अनुरूपता, व्यक्तित्व की समझ, स्वभाव का माधुर्य एवम् रुचियों की समानता को मानती है। शीलवती के चरित्र का प्रथम पक्ष भारतीय स्त्री रूप में उभरा है। उसके चरित्र का दूसरा पक्ष हमें सूर्य की प्रथम किरण के साथ देखने को मिलता है। यहाँ शीलवती, शीलवती का व्यवहार, शीलवती के विचार आदि सब बदल जाते हैं। शीलवती अपने पूर्व प्रेमी को उपपति के रूप में चुनकर कामनटी बनकर लौटती है। पहले की अपेक्षा अपने अधिकारों के प्रति आक्रामक रूप से सचेत दिखाई देती है। वह अपने शारीरिक सुख की मांग को बोझक स्वीकार करती है। वह मानती है कि नारीत्व की सार्थकता मातृत्व सुख की बजाय पुरुष संयोग में है। इसीलिए महामात्य को दोबारा घोषणा कराने के लिए कहती है। डॉ. लक्ष्मीराय के शब्दों में, “‘शीलवती का चरित्र एक सामान्य नारी से विकसित होकर मर्यादा के विरुद्ध संघर्ष करने वाली नारी के रूप में प्रस्तुत होता है।”¹⁷

सुरेन्द्र वर्मा के पुरुष पात्र अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त, अस्थिर हैं जो जीवन की सच्चाई से साक्षात्कार करने का साहस जुटा नहीं पाते हैं। इसीलिए वर्मा जी चाहकर भी पुरुष पात्रों को केन्द्रीय भूमिका में प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। ओक्काक एक ऐसा राजा है जो अपने आप में पूर्ण नहीं है। वह अपने राज्य को उत्तराधिकारी व पत्नी को शारीरिक सुख देने में असमर्थ है। जिसके कारण ओक्काक का सम्पूर्ण चरित्र शारीरिक नपुंसकता एवम् राजनैतिक नपुंसकता रुपी दोहरे छन्द को झेलने वाले व्यक्ति के समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति भर बनकर रह गया है।

रंगमंचीय दृष्टि से ‘सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक’ नाटक का दृश्यबन्ध राजा प्रसाद का शयन कक्ष है। यह तीन अंकों का नाटक है, जिसमें सूर्यास्त, रात्रि के विभिन्न पहर और सूर्योदय के समय को दृश्यबन्ध में बांधा गया है। मंच की अगली सीमा पर दाई और बाई ओर एक-एक द्वार। दाएँ के बाद मदिरा कोष्ठ, बाएँ के बाद चौकी का दर्पण एवम् प्रसाधन सामग्री इत्यादि। यह दृश्यबन्ध तत्कालीन ऐतिहासिक परिवेश और वातावरण को प्रस्तुत करने में सक्षम है।

नाटक के शीर्ष के साथ जुड़ा यौन-बिष्व शश्या के माध्यम से इस तरह समाहित किया गया है कि शश्या सारे नाटक की केन्द्रीय संवेदना को प्रकट करती है। काम सम्बन्धों पर आधारित स्त्री-पुरुष के शाश्वत सम्बन्धों दृश्यबन्ध में सूर्यास्त और रात्रि के विभिन्न प्रहरों में प्रकट होते हैं। जयदेव तनेजा इस नाटक के दृश्यबन्ध के बारे में लिखते हैं कि, “नाटककार ने दृश्यबन्ध को पर्याप्त लचीला बनाकर ओक्काक तथा महत्तरिका और प्रतोष तथा शीलवती के समनान्तर चलते दृश्यों को उनके पूरे वैषम्य और नाट्य वैभव के साथ कलात्मकता से प्रस्तुत किया है।”¹⁸

वर्मा जी ने प्रस्तुत नाटक के माध्यम से शीलवती और ओक्काक (पति-पत्नी) के अन्तर्द्वन्द्व की पीड़ा को उकेरा है। साथ ही स्वार्थी शासक की कमजोरी को मंत्रि-परिषद पकड़कर उसे किस तरह अपने इशारों पर नचाती है। इसे ओक्काक और अमात्य-परिषद की बातों से स्पष्ट किया है।

सन्दर्भ

¹ साक्षात्कार - जयदेव तनेजा, अभिनय विशेषांक 201

² वर्मा, सुरेन्द्र - सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण : 2008, पृष्ठ संख्या 28

³ वही, पृष्ठ संख्या 27

⁴ वही, पृष्ठ संख्या 39

⁵ वही, पृष्ठ संख्या 40

⁶ वही, पृष्ठ संख्या 35

⁷ वही, पृष्ठ संख्या 75

⁸ वही, पृष्ठ संख्या 71-72

⁹ वही, पृष्ठ संख्या 74

¹⁰ वही, पृष्ठ संख्या 79

¹¹ कृद्यरिया, सुन्दरलाल - समकालीन हिन्दी-नाटक, पंकज पुस्तक मंदिर, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 100, प्रथम संस्करण : 1992

¹² चातक, गोविन्द - नाट्य भाषा, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 13, द्वितीय संस्करण : 2010

¹³ वर्मा, सुरेन्द्र - सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 40, पाचवाँ संस्करण : 2008

¹⁴ वही, पृष्ठ संख्या 36

¹⁵ वही, पृष्ठ संख्या 63

¹⁶ वही, पृष्ठ संख्या 37

¹⁷ राय, लक्ष्मी - आधुनिक हिन्दी नाटक : चरित्र-सुष्टि के विविध आयाम, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1979, पृष्ठ 424

¹⁸ तनेजा, जयदेव - समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 17, संस्करण : 2002

वृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मज्ञान के तत्व

डॉ. मनीषा शुक्ला*

लेखक का धोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित वृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मज्ञान के तत्व शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका मैं मनीषा शुक्ला धोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

“वृहदारण्यकोपनिषद् का अध्ययन महिलाओं के संदर्भ में” इस शीर्षक के अन्तर्गत वृहदारण्यकोपनिषद् का अध्ययन महिलाओं के विभिन्न पक्षों को ध्यान में रखते हुए किया गया है।

इस शीर्षक के अन्तर्गत महिलाओं के किन-किन बिन्दुओं पर अध्ययन किया गया, यह विचार करने के पूर्व आये हम यह जान लें कि वृहदारण्यकोपनिषद् क्या है अथवा किस प्रकार का ग्रंथ है?

वृहदारण्यकोपनिषद् यजुर्वेद की काण्डी शाखा के वाजसनेय ब्राह्मण के अन्तर्गत है। यह उपनिषद् अन्य उपनिषदों की अपेक्षा या अत्यन्त वृहद् है एवं अरण्य (वन) में अध्ययन की जाने के कारण इसे आरण्यक कहते हैं इस प्रकार वृहत् और आरण्यक होने के कारण इसका नाम वृहदारण्यक हुआ है। इस बात को भाष्यकार शङ्कर ने ग्रंथ के आरम्भ में ही समझाया है, किन्तु उन्होंने केवल इस ग्रंथ के वृहद् आकार के संदर्भ मात्र का ही उल्लेख किया है; वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य तो अर्थतः भी इस ग्रंथ के वृहद् होने की बात स्वीकार करते हैं वृहत्वाद्ग्रंथतोऽर्थच्च वृहदारण्यकं मतम्।¹

उनकी यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। भाष्यकार ने भी जैसा विषद् और विवेचनापूर्ण भाष्य वृहदारण्यक पर लिखा है वैसा किसी अन्य उपनिषद् पर नहीं लिखा। उपनिषद्भाष्यों में इसे हम उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति कह सकते हैं।

ग्रंथ के आरम्भ में अश्वमेध ब्राह्मण है। इसमें यज्ञीय अश्व के अवयवों में विराट् के अवयवों की दृष्टि का विधान किया गया है। इसके कुछ आगे प्रजापति के पुत्र देव और असुरों के विग्रह का वर्णन है। इन्द्रियों की दैवी और आसुरी वृत्तियाँ देव और असुररूप से भी मानी जा सकती हैं इन्द्रियाँ स्वभावतः बहिर्मुख ही हैं पञ्चाञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः।²

सामान्यतः वैष्णविक या आसुरी वृत्तियों की ही प्रधानता रहती है। इसी से असुरों को ज्येष्ठ और देवों को कनिष्ठ कहा गया है। पुण्य एवं पापसंस्कारों के कारण ही इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का उत्कर्ष और अपकर्ष होता है, देवपूजन एवं शास्त्र अध्ययन से दैवी वृत्तियों का उत्कर्ष होता है और उन्हें छोड़ने से आसुरी वृत्ति का संबद्धन होता है। इस संदर्भ में

* प्रधान सम्पादिका, आन्वीक्षिकी पत्रिका, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत

द्रष्टव्य है कि एक बार देवों ने उद्गीथ³ के द्वारा असुरों का पराभव करना निश्चित किया। उन्होंने वाक्, ग्राण, चक्षु, श्रोत्र और त्वक् के अभिमानी देवताओं से अपने लिये उद्गान करने को कहा। उन देवताओं में से प्रत्येक ने स्वकर्मों की सहायता से दैवी प्रवृत्तियों की प्रबलता हेतु उद्गान किया, किन्तु उस कर्म का कल्याणमय फल यजमान के लिये चाहे। स्वार्थी होना आसुरी वृत्ति है, इसलिये उनका वह कर्म व्यर्थ हो गया अन्ततः मुख्यप्राण से इस कर्म के लिये प्रार्थना की गयी। प्राण परम उदार और सर्व था अनासक्त है। प्राण स्वयं कोई सुख नहीं भोगता, उसकी सहायता से सभी इन्द्रियाँ सुख भोगती हैं। देखा जाये तो शरीर की सभी इन्द्रियाँ सोती हैं, जगती हैं किन्तु प्राण सर्वथा सजग रहता है। अतः उसके उद्गान करने पर असुरों का दाव बिल्कुल खाली गया और देवताओं की विजय हुई। यह आख्यायिका श्रुति को इस बात को स्पष्ट करती है कि पापवृत्तियों का मूल वस्तुतः स्वार्थ ही है, जब तक हृदय में स्वार्थ का कुछ भी अंश है तब तक जीवन भोगासक्ति रूप पापमय बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता और जिसने स्वार्थ का परित्याग कर दिया है उस पर संसार के किसी भी प्रलोभन का कोई असर नहीं पड़ सकता है।

वृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के आरम्भ में दृप्तबालाकि गार्ग्य और अजातशत्रु का संवाद है। काशिराज अजातशत्रु तत्वज्ञ था और गार्ग्य दृप्त ज्ञानाभिमानी था। उसने जब अजातशत्रु से कहा मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश देता हूँ तो राजा ने उसे उसी क्षण एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा भेंट किया। इस प्रकार के आख्यानों के माध्यम से श्रुति हमें सूचित करना चाहती है कि जो लोग सच्चे एवं महान होते हैं वे दूसरों के दोषों को नहीं देखते अपितु उनका आदर करते हैं। इसके बाद गार्ग्य ने जिन जिन आदि त्यादि के अभिमानी पुरुषों में ब्रह्मत्व का आरोप किया, राजा अजातशत्रु ने उन्हें परिच्छिन्न दैवमात्र बताकर उनकी उपासना का भी विशिष्ट फल बताते हुये उनसब का निषेध कर दिया है। इस प्रकार अपनी बुद्धि की गति कुण्ठित हो जाने से गार्ग्य का अभिमान गलित हो गया और उसने ब्रह्मज्ञान हेतु राजा की ही शरण ली।

राजा उसका हाथ पकड़कर महल के भीतर ले गया और वहाँ सोये हुये एक पुरुष के पास जाकर प्राण के अभिमानी चन्द्रमा के ‘वृहत्, पाण्डरवास, सोम, राजन’ इत्यादि नाम लेकर पुकारा; किन्तु इन नामों से पुकार ने पर वह पुरुष नहीं उठा। तब राजा ने उसे हांथ से दबाया और वह तुरन्त उठ खड़ा हुआ।

इस प्रसङ्ग की सहायता से श्रुति यह बताना चाहती है कि जितने भी नाम-रूपाभिमानी देव हैं, वे वस्तुतः विज्ञानमय आत्मा नहीं है, विज्ञानमय आत्मा नामरूप से परे हैं। सामान्यतः सब जगह व्याप्त होने पर भी हृदयदेश में उसकी विशेष अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः वही सबका प्रेरक और सच्चा भोक्ता है, अन्य इन्द्रियाभिमानी देव भी उसकी विभूतियाँ हैं, उसकी सत्ता के अभाव में उनकी स्वतंत्र शक्ति की कोई सत्ता नहीं है। इन्द्रियों को प्रेरित करने के कारण ये प्राण हैं किन्तु प्राणों का भी प्रेरक होने से वह प्राणों की कोई सत्ता नहीं है। इन्द्रियों को प्रेरित करने के कारण ये प्राण हैं किन्तु प्राणों का भी प्रेरक होने से वह प्राणों का प्राण है।

वृहदारण्यकोपनिषद् के प्रथम अध्याय का चौथा ब्राह्मण स्त्री विषयक अध्ययन सामग्री उपलब्ध कराता है। इसके अन्तर्गत याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी के सम्बाद को देखा जा सकता है। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं- मैत्रेयी और कात्यायनी। उनकी प्रथम पत्नी मैत्रेयी को हम ब्रह्मवादिनी भी कह सकते हैं एवं उनकी दूसरी पत्नी कात्यायनी को एक सामान्य सी बुद्धि रखने वाली स्त्री कह सकते हैं। सम्प्रदाय भेद से इसी उपनिषद् में यह प्रसङ्ग चतुर्थ अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में फिर आया है। वहाँ इन दोनों स्त्रियों के विषय में बहुत सी बातें स्पष्ट की गई हैं। जब याज्ञवल्क्य ऋषि सन्ध्यास को इच्छुक हुए तब उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों को आहुत कर अपने धन को बांटने की इच्छा उन दोनों के समक्ष व्यक्त की। इसपर कात्यायनी जो सामान्य स्त्रियों के समान बुद्धि रखने वाली⁴ स्त्री थी, ने कुछ नहीं कहा; किन्तु मैत्रेयी जो श्रेयः कामिनी थी उसने कहा, ‘यदि धन से भरी हुई सारी पृथक्षी मेरी हो जाय तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी? इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा, धन से अमरता की आशा तो नहीं की जा सकती; हाँ! सम्पन्न पुरुषों का जैसा भोगमय जीवन है वैसा ही जीवन तुम्हारा हो सकता है’ यह सुनकर मैत्रेयी को ऐसा लगा जैसे उसे एक सही दिशा मिल गई हो; उसने पुनः याज्ञवल्क्य से जिज्ञासु की भाँति कहा, ‘जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उसे प्राप्त कर मैं क्या करूँगी? मुझे तो वही ज्ञान दीजिये जिसकी सहायता से मैं अमरत्व प्राप्त कर सकूँ।’ मैत्रेयी के उत्कट विवेक एवं वैराग्यपूर्ण शब्दों को सुनकर याज्ञवल्क्य ने उसे ‘ब्रह्मज्ञान’ का उपदेश दिया। उन्होंने ब्रह्मा एवं आत्मा के अभेद का प्रतिपादन कर मैत्रेयी को बताया कि आत्मा के लिये ही सबकी प्रियता,

आत्मज्ञान से ही सबका ज्ञान, आत्मा से भिन्न किसी भी वस्तु को देखने में पराभव, आत्मा से ही सम्पूर्ण भूतों के उत्पत्ति और प्रलय तथा अज्ञान में ही अनात्मवस्तुओं की सत्ता बताकर अन्त में यह उपदेश किया कि जिसकी दृष्टि में सब कुछ आत्मा ही हो जाता है उसके लिये कर्ता, क्रिया और करण का सर्वथा अभाव हो जाता है। वहाँ सूँघना, सुनना, मनन करना और जानना आदि। किसी भी क्रिया का महत्व नहीं रहता तथा वह आत्मतत्व किसी भी व्यक्ति का ज्ञेय विषय नहीं है, क्योंकि सबका ज्ञान तो वह स्वयं ही है।

इसके आगे वृहदारण्यकोपनिषद् में मधुब्राह्मण है। मधु अनेक पुष्पों का सार तत्व होता है एवं उसकी उत्पत्ति का कारक पुष्प होता है। मधु उपकार्य है और पुष्प उपकारक है। यह उपकार्य उपकारकभाव ही इस ब्राह्मण में मधु नाम से ही कहा गया है।

इसके आगे इस ग्रंथ में 2 अध्याय ऐसे हैं जो याज्ञवल्क्य काण्ड के नाम से जाने जाते हैं। इस काण्ड के आरम्भ में ही राजा जनक का आख्यान आता है। राजा जनक ने एक यज्ञ किया जिसमें असीम दक्षिणा देने का निर्णय लिया। राजा जनक ने पाञ्चाल देश के सभी विद्वान ब्राह्मणों के अपने यज्ञ में बुलाया। उन्होंने उन सभी ब्राह्मणों के समक्ष यह घोषणा की कि जो विद्वान ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी हो वह मेरी गोशाला में बंधी दस हजार गायें जिनकी सींगों में दस-दस स्वर्णमुद्रायें बंधी हुई हैं उन्हें ले जाये। एकत्र हुये ब्राह्मणों में से याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त किसी ने उठने का साहस न किया एवं याज्ञवल्क्य को उठते देख सभी ब्राह्मणों ने एक स्वर में यही सम्बाद किया कि क्या आप हम सबमें विशेष ब्रह्मज्ञानी हैं? इस पर याज्ञवल्क्य ने मुदित होकर प्रत्युत्तर दिया कि आप सभी को मेरा नमस्कार स्वीकार हो, आप सभी यह जान लें कि हम गायों के इच्छुक हैं।'

इस पर एक-एक कर सभी ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य से उत्तर प्रत्युत्तर किया एवं अंत में गार्गी खड़ी हुई। ब्रह्मवादिनी गार्गी ने इस लोक से आरम्भ करके उत्तरोत्तर प्रत्येक कारण का कारण पूछा। अन्त में जब उन्होंने ब्रह्मलोक का भी कारण पूछा तो याज्ञवल्क्य ने उसे रोक दिया, क्योंकि उन्होंने प्रश्न पूछने की अति को पार कर दिया था। जहाँ किसी विषय का निर्णय करने के लिये प्रश्नोत्तर होता है वहाँ निःसन्दिग्ध वस्तु के विषय में भी संदेह करना एक अपराध माना जाता है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किन्तु उपस्थित ब्राह्मणों में से किसी ब्राह्मण ने उनका उत्तर देने का साहस नहीं किया। इस प्रकार तृतीय अध्याय समाप्त होता है।

वृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में जनक और याज्ञवल्क्य का सम्बाद है। जनक ने भिन्न-भिन्न आचार्यों से वाक्, प्राण, चक्षु आदि को ही ब्रह्म रूप से सुना था। याज्ञवल्क्य ने उनमें से प्रत्येक के आयतन (गोलक) और प्रतिष्ठा (अधिष्ठान) पूछे किन्तु जनक ने उन आचार्यों से उनके विषय में कुछ सुना नहीं था। तब याज्ञवल्क्य जी ने उनके आयतन और प्रतिष्ठा बताकर उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार से उपासना करने का नियम न किया और उनमें से प्रत्येक की उपासना से देवलोक की प्राप्ति के संदर्भ में भी बताया। जनक ने प्रत्येक उपासना का फल सुनने पर उसी को परम पुरुषार्थ मानकर याज्ञवल्क्य को एक हजार गायों को देने की इच्छा व्यक्त की। किंतु याज्ञवल्क्य ने कहा कि शिष्य को कृतार्थ किये बिना धन लेना मेरे पिता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है, अतः मैं यह दक्षिणा स्वीकार नहीं कर सकता।

द्वितीय ब्राह्मण में जनक को अधिकारी सम्भक्त याज्ञवल्क्य जी ने विराट् का वर्णन करते हुए उस सर्वात्मा का प्रत्यगात्मा में उपसंहार करके परब्रह्म का उपदेश किया है। इससे जनक कृतकृत्यता का अनुभव करके अपना सारा राज्य गुरुदेव के चरणों में समर्पित कर देते हैं। इस प्रकार इस प्रकरण की समाप्ति होती है।

इस अध्याय के तृतीय व चतुर्थ ब्राह्मण में भी जनक एवं याज्ञवल्क्य का ही आख्यान एवं वाद प्रतिवाद हैं इस प्रकार यद्यपि याज्ञवल्क्य का संकल्प था कि मैं स्वयं जनक से कुछ नहीं कहूँगा, परन्तु पहले वे उन्हें इच्छित प्रश्न पृच्छाधिकार (प्रश्न पूछने के अधिकार का वदान) दे चुके थे; इसलिये जनक ने पूछा कि “हे याज्ञवल्क्य! यह पुरुष किस ज्योति वाला है?” बस, यहीं से इस अध्याय के तृतीय व चतुर्थ ब्राह्मण में प्रश्नोत्तर संवाद आरम्भ हो गया। यहाँ अनेक प्रकार से बस यही निश्चित हुआ है कि आत्मा ही चरम ज्योति है। वह स्वयंप्रकाश है। स्वप्नावस्था में वह सारे प्रपञ्च का उपसंहार करके अपने आनंदमय स्वरूप में स्थित रहता है। वही द्रष्टा की दृष्टि, ग्राता की ग्राती, रसयिता की रसना शक्ति, वक्ता की उक्ति, श्रोता

की श्रुति, मन्ता की मति और विज्ञाता की विज्ञाति है। इस प्रकार सबका स्वरूप होने से उसका कभी अभाव नहीं होता, क्योंकि जब तो कुछ रहता है उसका वास्तविक स्वरूप स्वयं आत्मा ही है। इस प्रकार जब वही सबका रूप है तो उक्त दृष्टि आदि के विषय में भी उससे भिन्न नहीं है। जिसे इस बात का ज्ञान हो गया वह निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है।

इसके आगे चतुर्थ अध्याय के अन्त तक याज्ञवल्क्य जी ने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में इस तत्व का वर्णन किया है। फिर पञ्चम ब्राह्मण में याज्ञवल्कीय काण्ड की पद्धति से पूर्वोक्त याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद का वर्णन है और छठें ब्राह्मण में आचार्य परम्परा के उल्लेख पूर्वक मधुकाण्ड समाप्त होता है।

इसके आगे पञ्चम अध्याय से खिलकाण्ड आरम्भ होता है। इसमें कई प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही बहुत रूचिकरण कथानक है। प्रजापति के पुत्र देव, असुर और मनुष्य अपने पिता के यहाँ रहकर ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं और प्रजापति से उपदेश करने की प्रार्थना करते हैं। प्रजापति बारी बारी से उन तीनों को एक ही अक्षर 'द' का उपदेश देते और इस एक ही अक्षर से उन्हें अपने-अपने लिये उपयुक्त उपदेश मिल जाता है। भोगप्रधान देवता इस द का तात्पर्य समझते हैं कि पिता ने हमें दमन (इन्द्रिय संयम) करने को कहा है, क्रूर प्रकृति असुर समझते हैं कि पिता ने हमें दया करने की आज्ञा दी है। अर्थ के इच्छुक मनुष्य समझते हैं कि पिता ने हमें दान करने की आज्ञा दी है। इस प्रकार अपने अपने स्वभाव के अनुसार आदेश पाकर वे सभी कृतार्थ हो जाते हैं। तदतिरिक्त भी इस अध्याय में और भी कई उपासनायें हैं

छठें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में इन्द्रियों के विवाद द्वारा प्राण की उत्कृष्टता दिखाई गयी है और द्वितीय ब्राह्मण में श्वेतकेतु और प्रवाहण का प्रसंग है। श्वेतकेतु केवल शास्त्राध्ययन करके ही अपने को विद्वान मानने लगा था। वह राजसभा में अपनी विद्या की धाक जमाने के उद्देश्य से पाञ्चाल नरेश प्रवाहण की सभा में आया। राजा ने उसे अभिमानी समझकर 5 प्रश्न पूछे। उन प्रश्नों का सम्बन्ध था जीवन मृत्यु की समस्या से। श्वेतकेतु से उत्तर न दिया गया। तब वह उदास होकर अपने पिता और गुरु आरुणि के पास आया। उसने भी उन प्रश्नों के संदर्भ में अपनी अज्ञानता प्रस्तुत की। तब वे पिता पुत्र दोनों प्रवाहण के पास गये और उससे उन प्रश्नों का उत्तर पूछा प्रवाहण ने उन्हें पञ्चाग्निविद्या का उपदेश दिया। इस प्रसंग का निरूपण छान्दोग्योपनिषद् में भी है। शाखा के भेद से एक ही विद्या का अनेक स्थान का उल्लेख हो जाता है।

इसके बाद तृतीय एवं चतुर्थ ब्राह्मण में क्रमावार पद्धति से श्रीमन्थ और पुत्रमन्थ क्रिया का उपदेश है। ये उभयविध क्रियायें एक दूसरे से जुड़ी हैं। इनका मुख्य उद्देश्य अच्छे सन्तानों की प्राप्ति है।

इस उपनिषद् में प्रतिपाद्य प्रतिपादन शैली बहुत ही सुन्दरता से प्रस्तुत की गई है। उपर्युक्त वर्णनों के अनुसार इसमें दो-दो अध्यायों के मधु, याज्ञवल्कीय और खिलसंजक तीन काण्ड हैं। इसमें मधु और खिल काण्डों में मुख्यरूप से उपासना का तथा याज्ञवल्कीय काण्ड में ज्ञान का वर्णन हुआ है। भाष्कार ने इसकी विवेचना करते हुये अपने हृदय से सर्वस्व अर्पित कर दिया है। इस अध्ययन को निम्न प्रकार सुगमता पूर्वक देखें - 1. याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद, 2. मैत्रेयी का अमृतत्व साधन विषयक प्रश्न, 3. याज्ञवल्क्य जी का आश्वासन, 4. प्रियतम आत्मा के लिये ही अन्य वस्तुयें प्रिय होती हैं, 5. आत्मा सबसे अभिन्न है, इसका प्रतिपादन, 6. सबकी आत्मस्वरूपता के ग्रहण में दुन्दुभि, शंख और वीणा का दृष्टान्त, 7. परमात्मा के निःश्वासभूत ऋग्वेदादिका उनसे अभिन्नत्वप्रतिपादन, 8. आत्मा ही सबका आश्रय है-इसमें द्रष्टान्त, 9. विवेक द्वारा देहादि के विज्ञानघनस्वरूप होने में जल में डाले हुये लवणखण्ड का द्रष्टान्त, 10. मैत्रेयी की शंका और याज्ञवल्क्य का समाधान, 11. व्यवहार द्वैत में है, परमार्थ व्यवहारातीत है।

1. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

'आत्मा है' इस प्रकार की उपासना करे, वह आत्मसत्त्व ही इन सबमें प्राप्तव्य है; क्योंकि वह पुत्रादि से भी बढ़कर प्रिय है, इस प्रकार जिसका उपन्यास किया गया है, उस वाक्य के व्याख्यानविषयक सम्बन्ध और प्रयोजनका 'उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, इसलिये वह सर्वरूप हो गया' इस वाक्य में वर्णन किया है। इस प्रकार यह बात दिखायी गई है कि प्रत्यगात्मा ब्रह्मविद्या का विषयक है।

इसी प्रकार जो चातुर्वर्ण्यादि विभाग के निमित्तभूत पाद्कृकर्मरूप साध्यसाधनवाला और बीजाङ्कुर के समान व्यक्ता-व्यक्तरूप है, उस अविद्या के विषयभूत नाम रूप-कर्ममय संसार का ‘यह अन्य है और मैं अन्य हूँ-ऐसा जो जानता है वह नहीं जानता’ यहाँ से आरम्भ करके ‘यह नाम, रूप और कर्म त्रयरूप है’ इस प्रकार उपसंहार किया है। इसके सिवा ब्रह्मलोकपर्यन्त उत्कर्षरूप शास्त्रीय भाव और स्थावरपर्यन्त अशास्त्रीय अधोभावका भी ‘देव और असुर ये दो प्राजापत्य थे’ इस वाक्य द्वारा पहले ही प्रदर्शन कराया गया है। इस अविद्या के विषय से विरक्त हुए पुरुष का किसी प्रकार प्रत्यगात्म विषयक ब्रह्मविद्या में अधिकार हो जाये- इसलिये तृतीय (अर्थात् उपनिषद् के पहले) अध्याय में ही अविद्यासम्बन्धी समस्त विषय का उपसंहार कर दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय में तो ‘मैं तेरे प्रति ब्रह्म का उपदेश करूँगा’ तथा ‘मैं तुझे ब्रह्मज्ञान, कराऊँगा’ इस प्रकार ब्रह्मविद्या के विषयक प्रत्यगात्मा का आरम्भ कर क्रिया, कारक, फल, स्वभाव और सत्य इन शब्दों के वाच्य समस्त जीवधर्मों के प्रतिषेध द्वारा ‘नेति-नेति’ इस वाक्य से उस अशेष विशेष शून्य एक अद्वय ब्रह्म का ज्ञान कराया गया है।

अब इस ब्रह्मविद्या के अंगरूप से संन्यास का विधान करना है; क्योंकि स्त्री, पुत्र एवं धनादिरूप पाद्कृकर्म अविद्या का विषय है, वह आत्मप्राप्ति का साधन नहीं है। किसी अन्य फल की प्राप्ति के लिये अन्य साधन का प्रयोग करना प्रतिकूल ही होता है। भूख या प्यास की निवृत्ति के लिये दौड़ना या चलना साधन नहीं हो सकता। पुत्रादि साधन तो मनुष्यलोक, पितृलोक अथवा देवलोक की प्राप्ति के ही साधनरूप से सुने गये हैं, आत्मप्राप्ति के साधनरूप से नहीं सुने गये।

(काम शब्द से) विशेषित होने के कारण भी ये ब्रह्मविद्या के साधन नहीं हैं; ‘इतना ही काम है’ इस प्रकार कर्मों का काम्यत्व सुना जाने के कारण विहित कर्म ब्रह्म वेत्ता के लिये नहीं है, क्योंकि ब्रह्मवेत्ता आप्तकाम होता है और आप्तकाम को कोई कामना होनी सम्भव नहीं है। इसके सिवा ‘जिन हमारे लिये यह आत्मलोक ही इष्ट है’ इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है।

कोई-कोई तो ब्रह्मवेत्ता का भी एषणाओं से सम्बन्ध बतलाने लगते हैं, जिन्होंने बृहदारण्यक नहीं सुना। पुत्रादि एषणाओं का सम्बन्ध तो अविद्वान् से ही होता है विद्या के विषय में उन्होंने श्रुति का किया हुआ यह विभाग नहीं सुना कि ‘जिन हमको यह आत्मलोक ही इष्ट है’ इसलिये ‘हम प्रजा को लेकर क्या करेंगे’ इत्यादि। तथा उन्हें इस विरोध का भी पता नहीं है कि समस्त क्रिया, कारक और फल को निषेधरूप विद्या के होने पर अपने कार्य के सहित अविद्या नहीं रह सकती।

तथा उन्होंने व्यासजी का वचन भी नहीं सुना, कर्म का स्वरूप अज्ञानमय और विद्या का स्वरूप ज्ञानमय है, उनमें एक दूसरे के विपरीत होना रूप विरोध है, जैसा कि ‘वेदके जो ऐसे वचन हैं कि ‘कर्म करे’ और ‘कर्म का त्याग करे’ सो पुरुष ज्ञान के द्वारा किस गति को प्राप्त होते हैं और कर्म से कल प्राप्त करते हैं? इसे मैं सुनना चाहता हूँ, आप मुझे यह बताइये; क्योंकि कर्म और ज्ञान तो एक दूसरे से विरुद्ध स्वभाव वाले और प्रतिकूलतया विद्यमान है’ इस तरह पूछे हुए प्रश्न का उत्तर देते हुए-‘जीवन कर्म से बंधता है और ज्ञान से मुक्त हो जाता है, इसलिये पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते’ इस प्रकार कर्म तथा ज्ञान में विरोध दिखाया गया है।

इसलिये ब्रह्मविद्या किसी अन्य साधन के साथ मिलकर पुरुषार्थ का साधन नहीं होती, अपितु सबसे विरोध रहने के कारण यह तो समस्त साधनों से निरपेक्ष रहकर ही पुरुषार्थ का साधन होती है अतः समस्त साधनों के त्यागरूप संन्यास का इसके, अङ्गरूप से विधान करना अभीष्ट है।

‘इतना ही अमृतत्व का साधन है’ ऐसे निश्चय किये जाने से, याज्ञवल्क्य ने कर्मों होते हुए भी सन्यास लिया-ऐसा छठें अध्याय के अन्त में लिङ्ग होने से तथा कर्मरूप साधन से रहित मैत्रेयी के प्रति अमृतत्व के साधन रूप से ब्रह्मविद्या का उपदेश किये जाने एवं धन की निन्दा की जाने से भी यही सिद्ध होता है। यदि कर्म अमृतत्व का साधन होता तो पाद्कृकर्म तो धनसे ही निष्पत्र होने वाला है, अतः धन की निन्दा का वचन इष्ट नहीं होता। कर्म के साधनभूत धनकी निन्दा तो तभी उचित होगी जब कि कर्म का त्याग कराना अभीष्ट होगा।

इसके सिवा ‘ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है’ ‘क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है’ इत्यादि वाक्य से कर्माधिकार के निमित्तभूत वर्णाश्रमादि प्रत्यय की निवृत्ति हो जाने से भी (यही सिद्ध होता है)। ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वादि प्रत्यय का निरास हो जाने पर ‘ब्राह्मण को यह करना चाहिये’ इत्यादि विधि का कोई विषय न रहने के कारण कोई स्वरूप नहीं रहता।

जिस पुरुष का भी यह ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वरूप प्रत्यय निवृत्त हो गया है, उसे तत्सम्बन्धी प्रत्यय न रहने के कारण स्वतः ही उसके कार्यभूत कर्म और कर्म के साधनों का संन्यास प्राप्त हो जाता है। अतः आत्मज्ञान के अङ्गरूप से संन्यास का विधान करने की इच्छा से ही यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है- मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ / अर्थात् अरे मैत्रेयी! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य-आश्रम) से ऊपर (संन्यास-आश्रम में) जानेवाला हूँ। अतः (तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ) इस कात्यायनी के साथ तेरा बंटवारा कर दूँ।

‘अरे मैत्रेयी! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा-अर्थात् याज्ञवल्क्य नामक ऋषि ने अपनी भार्या मैत्रेयी को पुकारा, अरे! यह सम्बोधन है। मैं उद्यास्यन्- यहाँ ये ऊपर पारिक्राज्यसंज्ञक आश्रमान्तर में जाने वाला हूँ अर्थात् इस गृहस्थाश्रम से ऊपर दूसरे आश्रम में जाने के लिये इच्छुक हूँ। इसलिये हन्त-तेरी अनुमति चाहता हूँ और इसके सिवा (यह भी इच्छा है कि) इस अपनी दूसरी भार्या कात्यायनी के साथ तेरा अन्त यानी विच्छेद (बंटवारा) भी कर दूँ। पति के द्वारा मुख से सम्बद्ध हुई तुम दोनों का आपस में जो सम्बन्ध था, अब द्रव्यविभाग करके उस सम्बन्ध का विच्छेद कर दूँगा; अर्थात् धन के द्वारा तुम दोनों का बंटवारा करके मैं चला जाऊँगा।

सा होवाच मैत्रेयी। यन्म म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य नु नाशस्ति वित्तेनेति ॥ १२ ॥ अर्थात् उस मैत्रेयी ने कहा, भगवन्! यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाये तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती है? याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, भोग-सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायेगा। धन से अमृतत्व की तो आशा है नहीं।

इस प्रकार कही जाने पर मैत्रेयी ने कहा, यहाँ ‘नु’ यह निपात वितर्क के लिये है। (क्या कहा? सो बताते हैं-) भगवन्! यदि यह समुद्र से घिरी हुई तथा वित्त यानी धनसे पूर्ण सारी पृथिवी मेरी हो जाये, तो भी मैं किसी प्रकार (अमर हो सकती हूँ?) अर्थात् किसी भी प्रकार अमर नहीं हो सकती-इस प्रकार ‘कथम्’ शब्द आक्षेप के अर्थ में है अथवा यह प्रश्नार्थक भी हो सकता है, अर्थात् पृथिवी भर में भरे हुए उस धन से सम्पन्न होने वाले अग्निहोत्रादि कर्म से क्या मैं अमर हो सकती हूँ- इस प्रकार इसका व्यवहित पदों से सम्बन्ध है।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया-नहीं! यदि ‘कथम्’ पदको आक्षेपार्थक माना जाये तो याज्ञवल्क्य ने ‘नहीं’ ऐसा कहकर उसका अनुमोदन किया है, और यदि उसे प्रश्नार्थक माना जाये तो यह उत्तर के लिये है, अर्थात् तू उससे अमर नहीं हो सकती; तो क्या होगा? लोक में जैसा उपकरण वालों का यानी नाना सामग्रियों से सम्पन्न लोगों का जीवन सुख के साधनभूत भोगों से सम्पन्न होता है, वैसा ही तेरा जीवन भी हो जायेगा; धन से अर्थात् धनसाध्य कर्म से अमृतत्व की तो मनसे भी आशा नहीं है।

2. मैत्रेयी का अमृतत्व साधन विषयक प्रश्न

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३ ॥ अर्थात् उस मैत्रेयी ने कहा, जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व का साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।

उस मैत्रेयी ने कहा, इस प्रकार कहे जाने पर मैत्रेयी ने उत्तर दिया ऐसी बात है तो जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती, उस धन से मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ केवल अमृतत्व का साधन जानते हों, उस अमृतत्वके साधन का हो मुझे उपदेश करें।

3. याज्ञवल्क्य जी का आश्वासन

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति॥१४॥
अर्थात् उन याज्ञवल्क्य जी ने कहा, ‘धन्य अरी मैत्रेयी!, तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी प्रिय लगने वाली ही बात कह रही है। अच्छा आ, बैठ जा, मैं तेरे प्रति उसका व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्यों के अर्थ का चिन्तन करना।

उन याज्ञवल्क्य जी ने कहा, ‘धन्य अरी मैत्रेयी!, तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी प्रिय लगने वाली ही बात कह रही है। अच्छा आ, बैठ जा, मैं तेरे प्रति उसका व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्यों के अर्थ का चिन्तन करना।’

उन याज्ञवल्क्य जी ने कहा- इस प्रकार धन से निष्पत्र होने वाले अमृतत्व के साधन का त्याग कर दिये जाने पर याज्ञवल्क्य ने अपने अभिप्राय की पूर्ति से संतुष्ट होकर कहा। वे बोले-वत अर्थात् उन्होंने अनुकम्पा करते हुए कहा-अरी मैत्रेयी! तू हमारी प्रिया-इष्टा है अर्थात् पहले ही से हमारी प्रिया होकर इस समय भी तू प्रिय यानी अनुकूल ही भाषण कर रही है, इसलिये आ, बैठ जा, मैं तेरे अभीष्ट अमृतत्व के साधन भूत आत्मज्ञान की व्याख्या अर्थात् उपदेश करूँगा। मेरे व्याख्यान करने पर तू उसका निदिध्यासन करना, अर्थात् मेरे वाक्यों का अर्थात् निश्च करके ध्यान करने की इच्छा करना।

4. प्रियतम् आत्मा के लिये ही अन्य वस्तुए प्रिय होती हैं

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वितस्य कामाय वितं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वितं प्रियं भवति। न वा अरे ब्राह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥१५॥ अर्थात् उन्होंने कहा- अरी मैत्रेयी! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्रिय होता है, स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिय नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिय होती है। पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते हैं, धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है। ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है, क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है। लोकों के प्रयोजन के लिये लोक प्रिय नहीं होते अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते हैं। देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये देवता प्रिय होते हैं। प्राणियों के प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयी! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, माननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से इस सबका ज्ञान हो जाता है।

अमृतत्व के साधन वैराग्य का उपदेश करने की इच्छा से याज्ञवल्क्य जी स्त्री, पति एवं पुत्रादि से, उनका त्याग करने के लिये, वैराग्य उत्पन्न कराते हैं। उन्होंने कहा- ‘न वै’-यहाँ ‘वै’ शब्द प्रसिद्ध वस्तु की याद दिलाने के लिये है अर्थात् लोक में यह प्रसिद्ध ही है कि पति यानी पति के प्रयोजन से स्त्री को पति प्रिय नहीं होता। तो फिर क्या बात है? अपने लिये अर्थात् अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री को पति प्रिय होता है इसी प्रकार ‘न वा अरे जायायै’ इत्यादि शेष वाक्य का

अर्थ भी इसी के समान समझना चाहिये; अर्थात् हे मैत्रेयी! न पुत्रों के, न धन के, न ब्राह्मण के, न क्षत्रिय के, न लोक के, न देवों के, न भूतों के और न अन्य सभी के प्रयोजन के लिये वे प्रिय होते। यहाँ जो-जो प्रीति के समीपतर साधन हैं, उनका पहले-पहले वर्णन किया है; क्योंकि उन-उनमें ही वैराग्य अधिकाधिक अभीष्ट है 'सर्व' शब्द का ग्रहण कहे और न कहे हुए सभी साधकों को सूचित करनें के लिये है। अतः यह लोक में प्रसिद्ध है कि आत्मा ही प्रिय है, अन्य कुछ नहीं। इसका 'तदेतत्रेयः पुत्रात्' इस वाक्य से उल्लेख किया है, उसी वाक्य का यह व्याख्यारूप वचन कहा है। अतः, आत्मा की प्रीति का साधन होने के कारण, जो अन्यत्र प्रीति है यह गुणी है, आत्मा में ही मुख्य प्रीति है। अतः हे मैत्रेयी! आत्मा ही द्रष्टव्य-दर्शन करने योग्य अर्थात् साक्षात्कार का विषय करने योग्य है तथा पहले आचार्य और शास्त्रद्वारा श्रवण करने योग्य एवं पीछे तर्कद्वारा मनन करने योग्य है, इसके बाद वह निदिव्यासितव्य अर्थात् निश्चय से ध्यान करने योग्य है; क्योंकि इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनरूप साधनों के सम्पन्न होने पर ही इसका साक्षात्कार होता है। जिस समय इन सब साधनों की एकता होती है, उसी समय ब्रह्मैकत्वविषयक सम्यक् दर्शन का प्रसाद होता है। अन्यथा केवल श्रवणमात्र से उसकी स्फुटता नहीं होती।

आत्मा में अविद्या से आरोपित प्रतीति का विषयभूत जो ब्राह्मण और क्षत्रियादि वर्णश्रमादिरूप कर्म का निमित्त है, वह क्रिया, कारक और फलरूप तथा रज्जू में आरोपित सर्पप्रतीति के समान अविद्याजनित प्रतीति का विषय है। उसकी निवृत्ति के लिये श्रुति कहती है- हे मैत्रेयी! आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान होने पर निश्चय ही यह सब विदित अर्थात् ज्ञात हो जाता है।

5. आत्मा सबसे अभिन्न है, इसका प्रतिपादन

शङ्का; किंतु अन्य का ज्ञान होने पर उससे भिन्न वस्तु का ज्ञान कैसे हो जाता है?

समाधान; यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आत्मा को छोड़कर और कोई भी वस्तु नहीं है; यदि होती तो (आत्मज्ञान से ही) उसका ज्ञान भी न होता, किन्तु अन्य वस्तु तो है ही नहीं, आत्मा ही तो सब कुछ है; अतः आत्मा का ज्ञान होने पर सभी का ज्ञान हो जाता है, किन्तु आत्मा ही सब कुछ किस प्रकार है; सो श्रुति बतलाती है।

ब्रह्म तं परादायोऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादायोऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादायोऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा॥१६॥ अर्थात् ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मणजाति को आत्मा से भिन्न जानता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है जो क्षत्रिय जाति को आत्मा सेभिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं जो लोकों को आत्मा से भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं जो देवताओं को आत्मा से भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते हैं जो भूतों को आत्मा से भिन्न देखता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मा से भिन्न देखता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और वे सब जो कुछ भी हैं, यह सब आत्मा ही है।

ब्रह्म-ब्राह्मण जाति उस पुरुष की परादात्- पराहित-पराकृत यानी परास्त कर देती है; किसे? जो आत्मा से भिन्न-आत्म स्वरूप को छोड़कर अर्थात् यह ब्राह्मणजाति आत्मा ही नहीं है, इस प्रकार जो उसे मानता है, उसे वह ब्राह्मण जाति यह सोचकर कि यह मुझे अनात्मरूप से देखता है, परास्त कर देती है; क्योंकि परमात्मा ही सबका आत्मा है।

इसी प्रकार क्षत्र-क्षत्रिय जाति तथा लोक, देव, भूत और सर्व, जिनका 'इदं ब्रह्म इदं क्षत्रम्' इत्यादि रूप से अनुक्रम है, वे सब आत्मा में ही हैं। जो यह आत्मा कि द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है इत्यादिरूप से प्रकरण प्राप्त है, क्योंकि सब कुछ आत्मा से ही उत्पन्न होता है, आत्मा में ही लीन होता है, तथा स्थितिकाल में भी आत्मस्वरूप ही है। आत्मा को छोड़कर उपलब्ध न होने के कारण सब कुछ आत्मा ही है।

6. सब की आत्मस्वरूपता के ग्रहण में दुन्दिभि, शंख और वीणा का दृष्टान्त

प्रश्न; किंतु इस समय (स्थितिकाल में) ‘यह सब आत्मा ही है’ ऐसा किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है? उत्तर; सर्वत्र चिन्मात्र की अनुवृत्ति होने के कारण सबकी चित्स्वरूपकता ही है- ऐसा जाना जाता है। इस विषय में द्रष्टान्त बताया जाता है- जिसका जिसके स्वरूप से अलग ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह तद्वूप ही होता है-ऐसा लोक में देखा गया है।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यशब्दाव्शवन्याद्यग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याधातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥७॥ अर्थात् वह द्रष्टान्त ऐसा है कि जिसप्रकार ताडन किये जाते हुय दुन्दुभि (नगाड़े) के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु दुन्दुभि के आधात को ग्रहण करने से उसका शब्द भी ग्रहण कर लिया जाता है।

स यथा अर्थात् वह द्रष्टान्त ऐसा है-लोक में जिस प्रकार दण्डादि से हनन-ताडन किये जाते हुये दुन्दुभि-भेरी आदि के बाह्य शब्दों को अर्थात् बाहर फैले हुए शब्दविशेषों को-दुन्दुभि के सामान्य शब्द में से निकाले हुए दुन्दुभि के विशेष शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता। दुन्दुभि का ग्रहण होने से अर्थात् दुन्दुभि के सामान्य शब्द के विशेषरूप से ‘ये दुन्दुभि के शब्द हैं’, इस प्रकार वे विशेष शब्द भी गृहीत हो जाते हैं क्योंकि दुन्दुभि के सामान्य शब्द को छोड़कर तो उनकी सत्ता ही नहीं है।

अथवा दुन्दुभि के आधात-दुन्दुभि के आहनन का नाम आधात है-उस दुन्दुभ्याधातविशिष्ट शब्द सामान्य का ग्रहण होने से उसके अन्तर्वर्ती विशेषों का भी ग्रहण हो जाता है। उससे अलग करके उनका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि विशेष रूप से तो उनका अभाव है। इसी प्रकार स्वप्न और जागरित की किसी भी वस्तुविशेष का प्रज्ञान से अलग ग्रहण नहीं किया जा सकता, अतः प्रज्ञान से अभिन्न उनका अभाव उचित ही है।

स यथा शंखस्य ध्यायमानस्य न बाह्यशब्दाव्शक्रुयाद्यग्रहणाय शंखस्य तु ग्रहणेन शंखधमस्य वा शब्दो गृहीतः ॥८॥ अर्थात् वह (दूसरा द्रष्टान्त) ऐसा है- जैसे कोई बजाये जाते हुए शंख के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु शंख के अथवा शंख के बजाने को ग्रहण करने से उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है।

तथा वह (दूसरा द्रष्टान्त) ऐसा है- जिस प्रकार बजाये जाते हुये शब्द से संयुक्त किये जाते हुये अर्थात् फूँके जाते हुये शंख के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता इत्यादि पूर्ववत् ऐसा ही अर्थ है।

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्यशब्दाव्शक्रुयाद्यग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥ अर्थात् वह (तीसरा द्रष्टान्त) ऐसा है- जैसे कोई बजायी जाती हुई वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणा के स्वर का ग्रहण होने पर उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है।

इसी प्रकार ‘वीणायै वाद्यमानायै’ अर्थात् बजायी जाती हुई वीणा का इत्यादि समझना चाहिये। यहाँ अनेक द्रष्टान्तों का ग्रहण सामान्यों की बहुलता प्रकट करने के लिये है। चेतन और अचेतन, सामान्य एवं विशेष अनेक और विलक्षण हैं। उनका जिस प्रकार परम्परा गति से एक प्रज्ञानघन महासामान्य में अन्तर्भाव है- यही किसी-न-किसी तरह दिखलाना है। जिस प्रकार दुन्दुभि, शंख और वीणा के सामान्य एवं विशेष शब्दों का शब्दत्व अन्तर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार स्थितिकाल में सामान्य और विशेष से अभिन्न होने के कारण ब्रह्मकी एकता का ज्ञान भी हो सकता है।

7. परमात्मा के निःशांसभूत ऋग्वेदादि का उनसे अभिन्नत्वप्रतिपादन

इस प्रकार यह जाना जा सकता है कि उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म ही था। जिस प्रकार अग्नि की चिनगारी, धूम, अंगार और ज्वालाओं का विभाग होने से पूर्व अग्नि ही है, अतः अग्नि की एकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार नामरूप-विकार की प्राप्त हुआ जगत् उत्पत्ति से पूर्व प्रज्ञानघन ही था-ऐसा ग्रहण करना उचित है-इसी से यह कहा जाता है- स यथाद्र्वेधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्चसितमेतद्वृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि विश्वसितानि ॥१०॥

वह (चौथा द्रष्टान्त-) जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधन किये हुये अग्नि से पृथक् धुआँ निकलता है, मैत्रेयी! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मंत्रविवरण और अर्थवाद है, वे इन महबूत के ही निःश्वास हैं।

वह (चौथा द्रष्टान्त-) जिस प्रकार आद्रैंधा अग्नि से-जो आर्द्ध (गीले) ईंधन से बढ़ाया गया हो उसे आद्रैंधाग्नि कहते हैं। उस आधान किये हुए अग्नि से जैसे पृथक् धुआँ निकलता है, पृथक् यानी नाना प्रकार का धुआँ। यहाँ 'धूम' शब्द का ग्रहण चिनगारी आदि को प्रदर्शित करने के लिये है; अर्थात् धूम और चिनगारी आदि निकलते हैं।

इसी प्रकार जैसा कि यह द्रष्टान्त है, हे मैत्रेयी! इस परमात्मा यानी प्रकृत महबूत का यह निःश्वसित है अर्थात् निःश्वसित के समान निःश्वसित है; जिस प्रकार बिना, प्रयत्न के ही पुरुष का निःश्वास होता है, अरे! उसी प्रकार (उस विज्ञानघन से यह जगत् उत्पन्न हुआ है)।

उससे निःश्वास के समान क्या उत्पन्न हुआ? जो यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चार प्रकार का मंत्रसमुदाय है तथा इतिहास यानी उर्वशी-पुरुषवा का संवादादि 'उर्वशी हाप्सरा:' इत्यादि ब्राह्मण ही इतिहास है, पुराण-'आरम्भ में यह असत् ही था' इत्यादि, विद्या 'वेदः सोऽयम्' इत्यादि देवजन विद्या, उपनिषद्-'प्रिय है-इस प्रकार उपासना करें इत्यादि। 'श्लोक-तदेते श्लोकाः' इत्यादि ब्राह्मणभाग के मंत्र, सूत्र-वस्तुसंग्रहवाक्य-जिस प्रकार कि वेद में 'आत्मा है-इस प्रकार उपासना करें', इत्यादि मंत्र है। अनुव्याख्यान-मंत्र-विवरण, व्याख्यान अर्थवाद अथवा वस्तुसंग्रहवाक्य के विवरण ही अनुव्याख्यान हैं, जिस प्रकार चतुर्थ अध्याय में 'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्य की व्याख्या है, अथवा 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवम्' इस वाक्य का व्याख्यान यह शेष अध्याय ही है। मंत्रविवरण का अर्थ मंत्रव्याख्यान है। इस प्रकार (इतिहासादि पदों से कहा हुआ) आठ प्रकार का ब्राह्मणभाग है।

इस प्रकार (निःश्वसित-श्रुति के सामर्थ्य से ऋग्वेदादि शब्दों में) मंत्र और (इतिहासादि से) ब्राह्मणों का ही ग्रहण करना चाहिये। पुरुष के निःश्वासों के समान नियतरचनावान् विद्यमान वेद की ही अभिव्यक्ति हुई है, पुरुष की बुद्धि के प्रयत्न पूर्वक इनकी रचना नहीं हुई, इसलिये यह अपने निरपेक्ष अर्थ में ही प्रमाण है। अतः उसने ज्ञान या कर्म जिसका जैसा निरूपण किया है, कल्याणकामियों को उसे वैसा ही समझना चाहिये।

रूपे विकार की व्याख्या नामप्रकाश के ही अधीन है। जल और फेन के समान जिनका वास्तविक अथवा अवास्तविक रूप से निरूपण नहीं किया जा सकता; उन परमात्मा के उपाधिभूत एवं विकार को प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण अवस्थाओं में स्थित नाम और रूप को ही संसार कहते हैं, इसलिये नाम के ही निःश्वसित होने का प्रतिपादन किया है, क्योंकि उसके निरूपण से ही रूप का भी निःश्वसितत्व सिद्ध हो जाता है।

अथवा 'ब्राह्मणजाति' उसे परास्त कर देती है यह सब जो कुछ है आत्मा है' इस मंत्रद्वारा सम्पूर्ण द्वैतवर्ग को अविद्या का कार्य बतलाया है। इससे (अविद्याकल्पित सिद्ध होने के कारण) वेद के अप्रमाणिक होने की आशंका होती है। उस आशंका की निवृत्ति के लिये ही यह कहा है-पुरुष के निःश्वास के समान बिना प्रयत्न के उत्पन्न हुआ होने के कारण वेद प्रमाण है, यह अन्य ग्रंथ की तरह (पुरुषप्रयत्नजनित) नहीं है।

8. आत्मा ही सबका आश्रय है-इसमें द्रष्टान्त

इसके सिवा दूसरी बात यह है कि जगत् का ब्रह्मत्व केवल उत्पत्ति और स्थितिकाल में ही प्रज्ञान को छोड़कर न रहने के कारण नहीं है, अपि तु प्रलयकाल में भी है। जिस प्रकार जल, बुद्धुद और फेनादि की सत्ता जल को छोड़कर नहीं है, उसी प्रकार प्रज्ञान से भिन्न उसके कार्य और उसी में लीन होने वाले नाम, रूप और कर्मों की सत्ता नहीं है। इसलिये एक ही प्रज्ञानघन एकरस ब्रह्म है-ऐसा जानना चाहिये। इसी से श्रुति (निमांकित मंत्र) कहती है। प्रलय प्रदर्शित करने के लिये यहाँ द्रष्टान्त दिया गया है- स यथा सर्वसामपा॑ समुद्र एकायनमेव॑ सर्वेषा॑ स्पर्शनां त्वगेकायनमेव॑ सर्वेषां गन्धानां नासिक एकायनमेव॑ सर्वेषा॑ रसानां जिह्वैकायनमेव॑ सर्वेषा॑ रूपाणां चक्षुरेकायनमेव॑ सर्वेषा॑ शब्दाना॑ श्रोत्रमेकायमेव॑ सर्वेषा॑ संकल्पानां मन एकायनमेव॑ सर्वासां विद्यान् हृदयमेकायनमेव॑ सर्वेषां कर्मणा॑ हस्तावेकायनमेव॑ सर्वेषां मानन्दानामुपस्थ एकायनमेव॑ सर्वेषां विसर्गणां पायुरेकायनमेव॑ सर्वेषामध्वनां पादवेकायनमेव॑ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥११॥

वह द्रष्टान्त जिस प्रकार समस्त जलों का समुद्र एक अयन (प्रलयस्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शों का त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धों का दोनों नासिकायें एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसों का जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दों का श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पों का मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मों का हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनंदों का उपस्थ एक अयन है और इसी प्रकार समस्त विसर्गों का पायु एक अयन है, इसी प्रकार मार्गों का चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदों का वाक् एक अयन है।

वह द्रष्टान्त-जिस प्रकार सम्पूर्ण नदी, बावड़ी और तड़गादि के जलों का समुद्र एकायन-एकगमनस्थान-एक प्रलयस्थान अर्थात् अभेदप्राप्ति का स्थल है, जैसा कि यह द्रष्टान्त है, उसी प्रकार वायु के स्वरूप भूत मृदु, कर्कश, कठोर और पिच्छिल आदि समस्त स्पर्शों का त्वचा एक प्रलयस्थान है। त्वचा से त्वचासम्बन्धी स्पर्शसामान्यमात्र समझना चाहिये, उसी में समुद्र में जल के समान स्पर्शविशेष प्रविष्ट है, उसके बिना वे सत्ताशून्य हो जाते हैं क्योंकि वे उसी के संस्थानमात्र (पृथक् आकारमात्र) थे।

इसी प्रकार वह त्वक्शब्दवाच्य स्पर्शसामान्य, त्वचा के विषय में स्पर्शविशेषों के समान मन के विषयसामान्यमात्र रूप मनः संकल्प में प्रविष्ट होकर उससे पृथक् सत्ताशून्य हो जाता है इसी तरह मनका विषयभी बुद्धि के सामान्य विषयमात्र में प्रवेश करके उससे पृथक् नहीं रहता तथा विज्ञानमात्र हो होकर समुद्रमें जल के समान प्रज्ञानघन परब्रह्म में लीन हो जाता है।

इस प्रकार परम्पराक्रम में अपने ग्राहक इन्द्रिय के सहित शब्दादि के प्रज्ञानघन में लीन हो जाने पर कोई उपाधि न रहने के कारण लवणखण्ड के समान एकरस, अनन्त, अपार, अखण्ड, प्रज्ञानघन ब्रह्म ही रह जाता है। अतः एकमात्र अद्वितीय आत्मा ही है-ऐसा जानना चाहिये।

इसी प्रकार पृथिवी के विशेषरूप समस्त गन्धों नासिकायें-ब्राणसम्बन्धी विषयसामान्य, जल के विशेषरूप समस्त रसों का रसनेत्रियसम्बन्धी विषयसामान्य, तेज के विशेषरूप समस्त रूपों का चक्षु-चक्षुसम्बन्धी विषयसामान्य और पहले ही की शब्दों का श्रोत्रसम्बन्धी विषयसामान्य आश्रय है। इसी प्रकार श्रोत्रादि विषयसामान्यों का मन के विषयसामान्यरूप संकल्प में, मन के विषय सामान्य का भी बुद्धि के विषय सामान्यरूप विज्ञानमात्र में और फिर विज्ञानमात्र होकर प्रज्ञानघन परमात्माओं में लय हो जाता है।

इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के भाषण, ग्रहण, गमन, त्याग और आनंदरूप विशेष विषय उन-उन क्रियाओं के सामान्यों में प्रविष्ट होकर विभाग के योग्य नहीं रहते, जिस प्रकार कि समुद्रों में गये हुए जलविशेष। वे सारे सामान्य प्राणमात्र हैं और प्राण प्रज्ञानमात्र ही है। कौपीतकी शाखावाले कहते हैं- ‘जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है।’

शंड्गः किन्तु यहाँ सर्वत्र विषय का ही लय बतलाया गया है, इन्द्रिय का नहीं-सो इसमें क्या कारण है?

समाधान; ठीक है, किन्तु श्रुति इन्द्रिय को विषय की सजातीय मानती है, अन्य जातिवाली नहीं। विषय का ही अपने ग्राहक रूप से अन्य स्वरूप है, उसी का नाम इन्द्रिय है। जिस प्रकार रूपविशेष का ही संस्थानमात्र दीपक सब प्रकार के रूपों को प्रकाशित करने में साधन है, इसी प्रकार दीपक ही की तरह समस्त विषयविशेषों के स्वरूपविशेष के प्रकाशकरूप से इन्द्रियाँ उन्हीं के अन्य संस्थानमात्र हैं। इसलिये इन्द्रियों के प्रलय के लिये पृथक् प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है, विषयसामान्य रूप होने के कारण विषय के प्रलय से ही इन्द्रियों का भी प्रलय सिद्ध हो जाता है।

9. विवेक द्वारा देहादि के विज्ञानघनस्वरूप होने में जल में डाले हुए लवणखण्ड का द्रष्टान्त

जहाँ तक प्रतिज्ञा की गयी है कि ‘यह जो कुछ है सब आत्मा है।’ इसमें आत्मसामान्यत्व, आत्मजनित्व और आत्मप्रलयत्व ये हेतु बतलाये हैं। अतः उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकालों में प्रज्ञान से भिन्न किसी की सत्ता न होने के कारण जो ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि ‘प्रज्ञान ब्रह्म है’ ‘यह सब आत्मा ही है’ उसे तर्क से भी सिद्ध कर दिया। यह प्रलय स्वाभाविक है-ऐसा पौराणिक लोग कहते हैं। ब्रह्मवेत्ताओं का जो ब्रह्मविद्याजनित बुद्धि पूर्वक प्रलय होता है, वह आत्मनिक है-ऐसा कहते हैं, जो कि अविद्या के निरोध द्वारा होता है; उसी के लिये यह विशेष आरम्भ किया जाता है।

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रासत उदकमेवानुविलीयेत न हास्योदग्रहणायेव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव। एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमिती होवाच याज्ञवल्क्यः॥१२॥ इसमें यह द्रष्टान्त है-जिस प्रकार जल में डाला हुआ नमक, जल में विलीन हो जाता है। उसे जल से निकालने के लिये कोई सामर्थ नहीं होता। जहाँ-जहाँ से भी जल दिया जाये वह नमकीन ही जान पड़ता है, हे मैत्रेयी! उसी प्रकार यह महद्भूत अनंत, अपार और विज्ञानघन ही है। यह इन (सत्यशब्दवाच्य) भूतों से प्रकट होकर उन्हीं के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है, देहेन्द्रियभाव से मुक्त होने पर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयी! ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ-ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

यहाँ यह द्रष्टान्त दिया जात है- ‘स यथा’ इत्यादि। सैन्धवखिल्य-सिन्धु के विकार का नाम सैन्धव है, ‘सिन्धु’ शब्द से जल कहा जाता है। स्पन्दन करने (बहने) के कारण जल सिन्धु है, उसका विकार अथवा उससे उत्पन्न होने वाला सैन्धव कहलाता है। जो सैन्धव हो और खिल्य (डला) हो, उसे सैन्धवखिल्य कहते हैं। खिल ही खिल्य है। यहाँ स्वार्थ में यत् प्रत्यय है। वह अपने कारणभूत सिन्धु यानी जल में डाले जाने पर जल के साथ घुलता हुआ उसी में लीन हो जाता है। पार्थिव तैजस का सम्पर्क होने से उसे डले को कठिनता की प्राप्ति हुई थी। वह अपने कारण का संयोग होने पर निवृत्त हो जाती है, यही जल का घुलना है, उसके साथ ही नमक का डला भी घुल गया-ऐसा कहा जाता है। इसी से यह कहा गया है कि वह जल के साथ लीन हो जाता है।

इस डले के उद्ग्रहण अर्थात् पूर्ववत् निकालकर ग्रहण करने के लिये कोई अत्यन्त निपुण पुरुष भी समर्थ नहीं होता। यहाँ ‘इव’ शब्द अर्थहीन है। उसे ग्रहण करने के लिये समर्थ हो ही नहीं सकता। क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि जिस-जिस जगह से वह उस जल को ग्रहण करता है अर्थात् ग्रहण करके चखता है, वह जल लवण के ही स्वादवाला होता है, उसमें डलापन नहीं रहता।

जैसा कि यह द्रष्टान्त है इसी प्रकार हे मैत्रेयी! यह परमात्मा नामका महद्भूत है, जिस महद्भूत से तू अविद्या से परिच्छिन्न होकर देहेन्द्रियरूप उपाधि के सम्बन्ध से खिल्यभाव को प्राप्त हो गयी है तथा मरणधर्मवाली, जन्म, मरण, क्षुधा और पिपासा आदि सांसारिक धर्मों वाली एवं मैं नामरूप कार्यात्मिका और अमुक वंश में उत्पन्न हुई हूँ-ऐसे भाववाली हो गयी है। देहेन्द्रिय-जनित उपाधि के सम्पर्क से भ्रान्ति के कारण उत्पन्न हुआ तेरा वह खिल्यभाव अपने कारण महासमुद्रस्थानीय अजर, अमर, अभय, शुद्ध, सैन्धव धन के समान एकरस, प्रज्ञानघन, अनंत, अपार, अखण्ड एवं अविद्याजनित भ्रान्तिमय भेद से रहित परमात्मा में प्रविष्ट कर दिया गया है।

उसमें प्रविष्ट होने पर उस खिल्यभाव के अपने कारणद्वारा लीन कर लिये जाने पर अविद्याजनित भेदभाव का नाश हो जाने से यह एक अद्वैत महद्भूत ही रहता है। महान भूत होने से वह महद्भूत कहलाता है, क्योंकि आकाशादि का कारण होने से वह सबसे महान् है। तीनों ही काल में उसके स्वरूपका व्यभिचार नहीं होता, वह सर्वदा ही ज्यों-का-त्यों रहता है, इसलिये भूत है। ‘भूत’ शब्द में ‘त’ यह निष्ठाप्रत्यय त्रैकालिक है।

अथवा ‘भूत’ शब्द परमार्थवाची है अर्थात् वह महत् है और पारसार्थिक है (इसलिये महद्भूत है)। यद्यपि हिमालयादि पर्वतों के समान लौकिक वस्तु भी महान होती है, किन्तु वह स्वप्न या माया के समान है, परमार्थवस्तु नहीं। इसी से श्रुति इसे विशेषित करती है कि यह महत् है और भूत भी है। अनंत अर्थात् इसका अन्त नहीं है, इसलिये अनन्त है। कदाचित् इसकी अनन्तता आपेक्षिक हो, इसलिये ‘अपारम्’ ऐसा विशेषण देती है। विज्ञप्तिका नाम विज्ञान है, जो विज्ञान हो और घन हो उसे विज्ञानघन कहते हैं। यहाँ घनशब्द (विज्ञान में) अन्य जाति की वस्तु का निषेध करने के लिये है, जैसे कि सुवर्णघन, लोहघन आदि। ‘एव’ शब्द निश्चयार्थक है। तात्पर्य यह है कि इसके भीतर कोई दूसरी विजातीय वस्तु नहीं है।

यदि यह आत्मतत्त्व एक, अद्वैत, परमार्थतः शुद्ध और सांसारिक दुःखों से असंस्पृष्ट है तो आत्मा का यह खिल्यभाव क्यों है तथा यह मैं उत्पन्न हुआ, मरा, सुखी, दुःखी, अहं, मम इत्यादि लक्षणों वाले अनेकों सांसारिक धर्मों से दूषित क्यों है? इस पर कहा जाता है-

इन भूतों से- ये जो देह और इन्द्रियरूप विषय के आकार में परिणत जल के फेन और बुद्धदों के समान जलस्थानीय स्वच्छ परमात्मा के नामरूपमय विकार है, जिनके सम्पूर्ण विषयों तक का, समुद्र में नहीं के समान, परमार्थिक विवेकज्ञान

से प्रज्ञानघन ब्रह्म में लय होना बतलाया गया है, इन सबके हेतुभूत सत्य शब्द वाच्यभूतों से लवणखण्ड के समान उत्पन्न होकर-जिस प्रकार जल से सूर्य-चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब अथवा जैसे अलक्कक (महावर) आदि उपाधियों के कारण स्वच्छ स्फटिका रक्तादि भाव हो जाता है, इसी प्रकार देहेन्द्रियरूप भूतों की उपाधियों के कारण विशेषात्मरूप खिल्ल्यभाव को समुत्थित अर्थात् सम्यक् प्रकार से उत्पन्न होकर जिन भूतों की उपाधियों के कारण विशेषात्मरूप खिल्ल्यभाव को समुत्थित अर्थात् सम्यक् प्रकार से उत्पन्न होकर जिन भूतों से यह उत्पन्न हुआ है, वे देह इन्द्रियों के आकार में परिणत एवं आत्मा के खिल्ल्यभावरूप विशेषत्व के हेतुकमत जिस समय शास्त्र और आचार्य के ब्रह्मविद्या के उपदेश से समुद्र में नदी के समान लीन होते हुये नाश को प्राप्त होते हैं, जल में फेन और बुद्धूदों के समान उनके नाश होने के साथ ही यह विशेषात्मरूप खिल्ल्य भाव नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार जल और अलक्कक आदि हेतुओं के हट जाने पर सूर्य, चन्द्र और स्फटिक आदि का प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है, केवल चन्द्रादिका पारमार्थिक स्वरूप ही रह जाता है उसी प्रकार फिर अनन्त, अपार और स्वच्छ प्रज्ञानघन ही रह जाता है।

फिर प्रेत्य-देहेन्द्रियभाव से मुक्त होने पर उसकी विशेष संज्ञा नहीं रहती, इसी से हे मैत्रेयी! मैं यह कहता हूँ कि उसकी 'मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, यह क्षेत्र और धन मेरा है, मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ' इत्यादि प्रकार को विशेष संज्ञा नहीं रहती, क्योंकि वह तो अविद्याजनित ही है, और अविद्या का उसके कारण के सहित ब्रह्मविद्या से नाश हो चुका है, इसलिये चैतन्यस्वरूप ब्रह्मवेत्ता की विशेषसंज्ञा रहने की सम्भावना कहा है? उसकी तो शरीर में रहते हुए भी कोई संज्ञा होनी सम्भव नहीं है, फिर सब प्रकार देह और इन्द्रियों से मुक्त होने पर तो रह ही कैसे सकती है? इस प्रकार याज्ञवल्क्य अपनी भार्या मैत्रेयी के प्रति परमार्थदृष्टि का निरूपण किया।

10. मैत्रेयी की शंका और याज्ञवल्क्य जी का समाधान

स होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मूमुहन्त्र प्रेत्य संज्ञास्तीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय॥१३॥
अर्थात् उस मैत्रेयी ने कहा- 'शरीरपात के अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती-ऐसा कहकर ही श्रीमान् ने मुझे मोह में डाल दिया है।' याज्ञवल्क्य ने कहा- 'हे मैत्रेयी! मैं मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ, अरी! यह तो उस (महद्भूत) का विज्ञान कराने के लिये पर्याप्त है।'

उस मैत्रेयी ने कहा, यही-इस एक वस्तु ब्रह्म में ही विरुद्ध धर्मवत्ता का वर्णन करने वाले श्रीमान ने तो मुझे मोह उत्पन्न कर दिया है। इसी बात को श्रुति कहती है- इस (ब्रह्म के) विषय में ही मुझे आप भगवान्-पूजावान अर्थात् पूज्य पुरुष ने अमूमुहत्- मोह उत्पन्न कर दिया। उन्होंने ब्रह्म की विरुद्धधर्मवत्ता का किस प्रकार वर्णन किया है-सो बतलाया जाता है-पहले 'वह विज्ञानघन ही है' ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर 'देहपात के अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती' ऐसा कहा है। सो किस प्रकार वह विज्ञानघन ही है और किस प्रकार देहपात के अनन्तर उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती? एक हो अग्नि उष्ण और शीतल दोनों प्रकार का नहीं हो सकता; अतः इस विषय में मुझे मोह (भ्रम) हो गया है।

उस याज्ञवल्क्य ने कहा- 'हे मैत्रेयी! मैं मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ अर्थात् मोह उत्पन्न करने वाली बात नहीं कह रहा हूँ।' (मैत्रेयी बोली) तो फिर 'वह विज्ञानघन है और उसकी कोई संज्ञा नहीं है, ये आपने उसके दो विरुद्ध धर्म क्यों बतलाये? (याज्ञवल्क्य ने कहा-) मैंने ये धर्म एक ही धर्मों में नहीं बतलाये हैं; ग्रान्ति से तूने ही एक वस्तु को विरुद्ध धर्मवाली समझ लिया है, मैंने ऐसा नहीं कहा। मैंने तो ऐसा कहा था कि आत्मा का जो अविद्या द्वारा प्रस्तुत किया हुआ देहेन्द्रिय सम्बन्धी खिल्ल्यभाव है, उसका विद्या द्वारा संज्ञा होती है, वह कार्यकरणसंघातरूप उपाधि के लीन कर देने पर कोई हेतु न रहने के कारण इसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार जलादि आधार का नाश हो जाने पर चन्द्रिका का प्रतिबिम्ब और उससे होने वाले प्रकाशादि का नाश हो जाता है किन्तु जिस प्रकार वास्तविक चन्द्रमा और सूर्यादि के स्वरूप का नाश नहीं होता, उसी प्रकार असंसारी ब्रह्म के स्वरूप विज्ञानघन का भी नाश होनेपर परमार्थतः उसका नाश नहीं होता। विनाशी तो अविद्याजनित खिल्ल्यभाव ही है, जैसा कि, 'विकार वाणी से आरम्भ होने वाला नाममात्र है।' इस अन्य श्रुति से सिद्ध होता है किन्तु यह तो पारमार्थिक है और हे मैत्रेयी! यह आत्मा तो अविनाशी है, अतः जिस प्रकार इसकी व्याख्या की गयी

है, उसी प्रकार यह अनन्त और अपार महद्भूत जाना जा सकता है। ‘विज्ञाता के विज्ञान का विशेषरूप से लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है’ ऐसा श्रुति आगे कहेगी भी।

11. व्यवहार द्वैत में है, परमार्थ व्यवहारातीत है

शरीरपात के अनन्तर उसकी संज्ञा किस प्रकार नहीं रहती? सो बतलाया जाता है, सुनो- यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिग्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूतत्केन कं जिग्रेतत्केन कं पश्येतत्केन क् शृणुयातत्केन कमभिवदेतत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयत्। येनेद् सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति॥१४॥ जहाँ (अविद्यावस्था में) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का अभिवादन करता है, अन्य अन्य का मनन करता है, अन्य अन्य को जानता है। किन्तु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है वहाँ किसके द्वारा किसे सूँधे, किसके द्वारा किसे देखें, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करें, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने? हे मैत्रेयी! विज्ञाता को किसके द्वारा जाने?

हि-क्योंकि जहाँ जिस अविद्याकल्पित देहेन्द्रियसंघातरूप उपाधि से उत्पन्न हुए विशेषात्मरूप खिल्यभाव में द्वैत-सा अर्थात् परमार्थतः अद्वैत ब्रह्ममें द्वैत-सा भिन्न-सा अर्थात् आत्मा से भिन्न पदार्थ-सा प्रतीत होता है-(शङ्कर) किन्तु द्वैत से उपमा दिये जाने के कारण तो द्वैत की पारमार्थिकता सिद्ध होती है। (समाधान) नहीं, क्योंकि ‘विकारवाणी से आरम्भ होने वाला नाममात्र है’ ऐसी एक अन्य श्रुति है, तथा ‘एक ही अद्वितीय ब्रह्म है’ ‘यह सब आत्मा ही है’ ऐसी भी श्रुति है। अतः वहाँ चूँकि द्वैत-सा रहता है, इसलिये ही परमात्मा का खिल्यरूप वह अपारमार्थिक आत्मा उससे अन्य अर्थात् चन्द्रादि के जल में पड़े हुए चन्द्रादि प्रतिबिम्ब के समान भिन्न है अर्थात् परमात्मा से इतर सूँधने वाला अन्य ग्राणेन्द्रिय से इतर सूँधने योग्य पदार्थों को सूँघता है।

यहाँ जो ‘इतरः इतरम्’ ऐसा कहा गया है वह (कर्ता और कर्म) कारकों को प्रदर्शित करने के लिये है और ‘जिग्रति’ यह क्रिया और फल को बतलाने के लिये है, जिस प्रकार ‘छिनति’-छेदन करता है; जैसे कुल्हाड़ी उठा-उठाकर मारना और छेद्य वस्तु के दो खण्ड हो जाना-ये दोनों ही ‘छिनति’ इस एक ही शब्द से कहे जाते हैं, क्योंकि उसी में क्रिया की समाप्ति होती है और क्रिया के बिना उस फल की उपलब्धि भी नहीं होती। अतः (परमात्मा से) भिन्न सूँधने वाला अपने से भिन्न ग्राणेन्द्रिय के द्वारा भिन्न ग्रातव्य पदार्थ को सूँघता है। इसी प्रकार आगे के पर्यायों में समझना चाहिये। पहले ही के समान वह सबको विशेषरूप से जानता है, यह उसकी अविद्यावान् (अज्ञानी) की अवस्था है।

किन्तु जहाँ ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या नाश को प्राप्त हो गयी है, वहाँ आत्मा से भिन्न अन्य वस्तु का अभाव हो जाता है; और जहाँ इस ब्रह्मवेत्ता के सम्पूर्ण नाम-रूपादि आत्मा ही में लीन किये जाकर आत्मा ही हो गये हैं, इस प्रकार जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो गया है, वहाँ किस इन्द्रिय के द्वारा किस सूँधने योग्य पदार्थ को कौन सूँधे? यथा कौन देख, कौन जाने? क्योंकि सभी जगह क्रिया तो कारकसाध्य ही होती है, अतः कारक का अभाव हो जाने पर क्रिया सम्भव नहीं रहती तथा क्रिया न रहने पर फल नहीं रहता। अतः अविद्या के रहते हुए ही क्रिया, कारके और फल का व्यवहार रहता है, ब्रह्मवेत्ता का ऐसा कोई व्यवहार नहीं रहता; क्योंकि वह तो सबका आत्मा ही है, उसकी दृष्टि में आत्मा से भिन्न कारक, क्रिया अथवा फल है ही नहीं, और न किसी के लिये अनात्मा रहते हुए सब कुछ आत्मा हो ही सकता है; अतः अनात्मत्व तो अविद्या से ही कल्पित है, वास्तव में तो आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। अतः पारमार्थिक आत्मैकत्व का ज्ञान होने पर क्रिया, कारक और फल की प्रतीति होनी सम्भव नहीं है। इसलिये (ज्ञानदृष्टि से) विरोध होने के कारण ब्रह्मवेत्ता के लिये क्रिया और उनके साधनों की तो सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। ‘केन कम्’ ऐसा जो आक्षेपार्थक वचन है, वह प्रकारान्तर की अनुपपत्ति प्रदर्शित करनें के लिये है, क्योंकि किसी भी प्रकार से (ब्रह्मवेत्ता के लिये) क्रिया और करणादि कारकों की उपपत्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि कोई भी किसी के द्वारा किसी प्रकार कुछ भी नहीं सूँघ सकता।

इसके सिवा अविद्यावस्था में भी जहाँ अन्य अन्यको देखता है, वहाँ भी जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने, क्योंकि जिसके द्वारा वह जानता है वह इन्द्रिय तो उसके विज्ञेयवर्ग में आ जाती है और ज्ञाता की जिज्ञासा भी ज्ञेय में ही होती है, अपने में नहीं होती (तथा अग्नि जैसे अपने ही को नहीं जलाता) उसी प्रकार आत्मा अपना ही विषय नहीं हो सकता; और जो विषय नहीं है, उसका ज्ञाता को ज्ञान नहीं हो सकता। अतः जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उस विज्ञाता को कोई अन्य अनात्मा किस कारण के द्वारा जान विद्यमान रहता है, उस समय हे मैत्रेयी! उस विज्ञाता को वह किसके द्वारा जानेगा?

और भी देखें- 1. याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद, 2. याज्ञवल्क्य और उनकी दो स्त्रियाँ, 3. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद, 4. मैत्रेयी का अमृतत्व साधनविषयक प्रश्न, 5. याज्ञवल्क्य जी सान्त्वनापूर्वक समाधान, 6. प्रियतम आत्मा के लिये ही सब वस्तुए प्रिय होती हैं, 7. भेददृष्टि से हानि दिखाकर ‘सब कुछ आत्मा ही है’ इस तत्त्व का उपदेश, 8. सबको ‘आत्मा’ रूप से ग्रहण करने में दृष्टान्त, 9. निर्विशेष आत्मा के विषय में मैत्रेयी की शंका और याज्ञवल्क्य का समाधान एवं 10. उपदेश का उपसंहार और याज्ञवल्क्य का सन्यास।

1. याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद

(द्वितीय अध्याय में) आगमप्रधान मधुकाण्ड द्वारा ब्रह्मतत्त्व का निश्चय किया गया। फिर (तीसरे अध्याय में) युक्तिप्रधान याज्ञवल्कीय काण्ड द्वारा उसी के पक्ष-प्रतिपक्ष लेकर जल्पन्यायद्वारा विचार किया गया और तदनन्तर इस छठे प्रपाठक (अर्थात् चतुर्थ अध्याय में) गुरु-शिष्य सम्बन्ध से प्रश्नोत्तर की शैली द्वारा उसका विस्तारपूर्वक विचार करके उपसंहार किया गया। उसके पश्चात् अब निगमन स्थानीय मैत्रेयोब्राह्मण आरम्भ किया जाता है। वाक्यमर्मज्ञों ने इस न्याय को स्वीकार भी किया है, यथा-‘हेतुका उल्लेख करके प्रतिज्ञा का पुनः कथन करना निगमन है’ इति।

अथवा आगमप्रधान मधुकाण्ड ने जिस सन्यासयुक्त आत्मज्ञान को अमृतत्व का साधन बतलाया है, वही सन्यास आत्मज्ञान तर्क से भी अमृतत्व का साधन जाना जाता है। याज्ञवल्कीय काण्ड तर्कप्रधान ही है, अतः यह जो अमृतत्व का साधन सन्यास-युक्त आत्मज्ञान है, वह शास्त्र और तर्क दोनों ही से निश्चित है। इसलिये अमृतत्व-प्राप्ति के इच्छुक एवं शास्त्र में श्रद्धा रखने वाले पुरुषों को इसे प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि शास्त्र और युक्ति दोनों ही के द्वारा निश्चय किया हुआ अर्थ अव्यभिचारी होने के कारण श्रद्धेय होता है। इन अक्षरों के अर्थ की तो चतुर्थ प्रपाठक (यानी द्वितीय अध्याय) में जिस प्रकार व्याख्या की गयी है, वैसी ही यहाँ भी समझनी चाहिये। वहाँ जिन अक्षरों की व्याख्या नहीं की गयी, उनकी व्याख्या हम यहाँ करेंगे।

2. याज्ञवल्क्य और उनकी दो स्त्रियाँ

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्यो बभूवतुमैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञेव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन्॥१॥ यह प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी और कात्यायनी ये दो भार्यायें थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी तो स्त्रियों की-सी बुद्धि वाली ही थी। तब याज्ञवल्क्य ने दूसरे प्रकार की चर्चा का आरम्भ करने की इच्छा से (कहा-)

‘अथ’ यह शब्द यह दिखाने के लिये है कि यह सिद्धान्तप्रतिपादक प्रकरण हेतु का उपदेश करने के बाद आरम्भ किया गया है, क्योंकि इससे पहले हेतु प्रधान वाक्य कहे जा चुके हैं। उनके बाद अब आगमप्रधान मैत्रेयीब्राह्मण द्वारा पहले प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ का निगमन किया जाता है। ‘ह’ शब्द पूर्ववृत्त को सूचित करने वाला है।

प्रसिद्ध है, याज्ञवल्क्य ऋषि दो भार्यायें-पत्नियाँ थीं, एक मैत्रेयी नामवाली थी और दूसरी कात्यायनी नामवाली। उन दोनों पत्नियों में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी-ब्रह्मसम्बन्धी भाषण करनेवाली थी, किन्तु कात्यायनी उस समय ‘स्त्रीप्रज्ञा’-जो प्रज्ञा स्त्रियों के योग्य हो, उसे स्त्रीप्रज्ञा कहते हैं, जिसकी वह स्त्रीप्रज्ञा अर्थात् गृहसम्बन्धी प्रयोजन को ही खोज में रहने वाली बुद्धि थी, ऐसी स्त्रीप्रज्ञा ही थी। ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य ने अन्य अर्थात् गार्हस्थ्यरूप पूर्वचर्या से भिन्न सन्यासरूप चर्या का आरम्भ करने के इच्छुक होकर (कहा-)

3. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रब्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कातयायन्यान्तं करवाणीति॥१२॥ अरी मैत्रेयी! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा- ‘मैं इस स्थान (गार्हस्थ्यआश्रम) से अन्यत्र सब कुछ त्याग कर जाने वाला हूँ, अर्थात् सन्यास लेने का विचार है। इसलिये (मैं तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ) इस कात्यायनी के साथ तेरा बंटवारा कर दूँ।

हे मैत्रेयी! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने बड़ी स्त्री को लक्ष्य करके सम्बोधन किया और उसे बुलाकर कहा, ‘अरी मैत्रेयी! मैं इस गार्हस्थ्य आश्रम से प्रब्रजन-पारिक्रान्ति (सन्यास) स्वीकार करने वाला हूँ, सो हे मैत्रेयी! तू मुझे अपनी अनुमति दे, और यदि तेरी इच्छा हो तो इस कात्यायनी के साथ तेरा बंटवारा कर दूँ-इत्यादि वाक्य की व्याख्या पहले की जा चुकी है।

सा होवाच मैत्रेयी यन्मु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यां न्वहं तेनामृताऽहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणतां जीवितं तथैव ते जीवित् ४ स्यादमृतत्वस्य तु नाशस्ति वित्तेनेति॥१३॥ उस मैत्रेयी ने कहा, ‘भगवन्! यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाये तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ, अथवा नहीं? याज्ञवल्क्य ने कहा- ‘नहीं, भोग सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायेगा, धन से अमृतत्व की तो आशा है नहीं।

4. मैत्रेयी का अमृतत्व-साधनविषयक प्रश्न

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति॥१४॥ अर्थात् उस मैत्रेयी ने कहा, जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व का साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।

इस प्रकार कहे जाने पर उस मैत्रेयी ने कहा, ‘यदि यह सारी पृथिवी धन से पूर्ण हो जाये तो क्या उस धनसाध्य कर्म से मैं अमर हो जाऊँगी अथवा नहीं? याज्ञवल्क्य ने कहा, ‘नहीं’ इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है।

5. याज्ञवल्क्य जी का सान्त्वनापूर्वक समाधान

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवति सती प्रियमवृधद्वन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति॥१५॥ उन याज्ञवल्क्य जी ने कहा, ‘निश्चय ही तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी तूने हमारे प्रिय (प्रसन्नता) को बढ़ाया है। अतः हे देवि! मैं प्रसन्नतापूर्वक तेरे प्रति इस (अमृतत्व के साधन) की व्याख्या करूँगा। तू मेरे व्याख्या किये हुए विषय का चिन्तन करना।

उन्होंने कहा तू निश्चय ही पहले भी हमारी प्रिया रही है, अब भी तूने हमारे प्रिय की ही वृद्धि की है, प्रसन्नता को ही बढ़ाया है-सन्तोषजनक निश्चय किया है, इसलिये मैं तुझपर प्रसन्न हूँ। अब यदि तू अमृतत्व का साधन जानना चाहती हो तो हे भगवति-हे देवि! मैं उस अमृतत्व के साधन की व्याख्या करूँगा।

6. प्रियतम आत्मा के लिये ही सब कस्तुयें प्रिय होती हैं

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे ब्राह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया

भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्॥६॥ अर्थात् उन्होंने कहा- अरी मैत्रेयी! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्रिय होता है, स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया होती है। पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते हैं, धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है। ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है, क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है। लोकों के प्रयोजन के लिये लोक प्रिय नहीं होते अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते हैं। देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये प्राण प्रिय होते हैं तथा सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयी! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, माननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! निश्चय ही आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जाने पर सबका ज्ञान हो जाता है।

'हे मैत्रेयी! निश्चय ही आत्मा का दर्शन हो जाने पर, किस प्रकार आत्मा का दर्शन हो जाने पर, सो कहा जाता है- पहले आचार्य और शास्त्रद्वारा श्रवण और फिर तर्क एवं युक्ति से मनन और विचार करने पर, शास्त्रमात्र से तो श्रवण, युक्ति से मनन और पीछे विशेषरूप से जान लेने पर अर्थात् यह ऐसा ही है, अन्य प्रकार का नहीं है-ऐसा निश्चय कर लेने पर क्या होता है? सो बतलाया जाता है-यह ज्ञात हो जाता है अर्थात् यह सब जो कि आत्मा से भिन्न है, जान लिया जाता है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं।

7. भेददृष्टि से हानि दिखाकर 'सब कुछ आत्मा ही है' इस तत्व का उपदेश

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा॥७॥ ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मणजाति को आत्मा से भिन्न जानता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं जो लोकों को आत्मा से भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं जो देवताओं को आत्मा से भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते हैं जो भूतों को आत्मा से भिन्न देखता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मा से भिन्न देखता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और वे सब जो कुछ भी हैं, यह सब आत्मा ही है।

तात्पर्य यह है कि उस अनात्मदर्शी को 'यह मुझे आत्मा से भिन्न रूप में देखता है' इस अपराध से परादात्-पराकृत-परास्त अर्थात् कैवल्य से सम्बन्ध रहित कर देते हैं।

8. सबको 'आत्मा' रूप से ग्रहण करने में द्रष्टान्त

स यथा दुन्दुभेर्न्यमानस्य न बाह्यञ्चाब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याधातस्य वा शब्दे गृहीतः॥८॥ वह द्रष्टान्त ऐसा है कि जिस पर लकड़ी आदि से आधात किया जाता है, उस दुन्दुभि (नगाड़े) के बाह्य शब्दों को जिस प्रकार कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु दुन्दुभि या दुन्दुभि के आधात को ग्रहण करने से उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है।

स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य न बाह्याज्ञव्याज्ञकुयाद् ग्रहणाय शंखस्य तु ग्रहणेन शंखधमस्य वा शब्दे गृहीतः ॥१९॥
वह (दूसरा द्रष्टान्त) ऐसा है- जैस मुँह फूँके जाते हुए शंख के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु शंख या शंख के बजाने को ग्रहण करने से उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है।

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याज्ञव्याज्ञकुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दे गृहीतः ॥१०॥
वह (तीसरा द्रष्टान्त) ऐसा है- जैसे बजायी जाती हुई वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणा के बजाने को ग्रहण करने से उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है।

स यथा ॐ द्रेष्टान्ते रभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्चितमेतद् यद्वावेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथवाङ्गिरस
इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतामाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः
सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्चितानि ॥११॥ स यथा सर्वा-सामाप्तुः समुद्र एकायनमेव एवं सर्वेषां स्पर्शानां
त्वगेकायनमेव एवं सर्वेषां गन्धानां नासिक एकायनमेव एवं सर्वेषां रसानां जिह्वा-कायनमेव एवं सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेव
एवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेव एवं सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेव एवं सर्वासां विद्यान् हृदयमेकायनमेव एवं सर्वेषां
कर्मणा हस्तावेकायनमेव एवं सर्वेषां मानन्दानामुपस्थ एकायनमेव एवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेका-यनमेव एवं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेव
एवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥१२॥

वह (चौथा द्रष्टान्त-) ऐसा है कि जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधन किये हुये अग्नि से पृथक् धुएँ निकलते हैं, उसी प्रकार हे मैत्रेयी! ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथवाङ्गिरस (अर्थर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक (ब्राह्मण-मंत्र), सूत्र (वैदिक वस्तुसंग्रहवाक्य), सूत्रों की व्याख्या मंत्रविवरण और अर्थवाद है, वे इन महद्भूत के ही निःश्वास हैं। वह (पांचवां) द्रष्टान्त जिस प्रकार समस्त जलों का समुद्र एक अयन (प्रलयस्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शों का त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धों का दोनों नासिकायें एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसों का जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दों का श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पों का मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मों का हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनंदों का उपस्थ एक अयन है और इसी प्रकार समस्त विसर्गों का पायु एक अयन है, इसी प्रकार मार्गों का चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदों का वाक् एक अयन है।

चतुर्थ प्रपाठक (अर्थात् द्वितीय॑ अध्याय) में शब्द-निःश्वास के द्वारा हो समर्थ्य से लोकादि अर्थनिःश्वास भी कह गये- ऐसा विचार कर उन्हें अलग नहीं कहा। किन्तु यहाँ तो सारे शास्त्र का उपसंहार करना है, इसलिये अर्थतः प्राप्त विषय को स्पष्ट कर देना चाहिये, इसीलिये उन्हें अलग कहा गया है।

स यथा सैन्धवधनोऽनन्तरोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो
भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१३॥ उसमें (छठां) द्रष्टान्त इस प्रकार है-जिस प्रकार नमक का डला अन्तर और बाह्य से रहित सम्पूर्ण रसघन ही है, है मैत्रेयी! उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर-बाह्य-भेद से शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है। यह इन भूतों से (विशेषरूप से) उत्थित होकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मर जाने पर इसकी संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयी! इस प्रकार मैं कहता हूँ- ऐसा याज्ञवल्क्य कहा।

अविद्याजनित सम्पूर्ण कार्य का सर्वथा लय हो जाने पर लवणखण्ड के समान अन्तर और बाह्य से रहित परिपूर्ण, प्रज्ञानघन एक आत्मा ही स्थित रहता है। पहले तो वह भूतमात्रा के संसर्गविशेष से विशेष विज्ञान को प्राप्त रहता है, फिर विद्या के द्वारा उस विशेष विज्ञान और उससे होने वाले भूतमात्रा के संसर्ग के सर्वथा लीन कर दिये जाने पर मरण के पश्चात् उसकी संज्ञा नहीं रहती-ऐसा याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रति कहा।

9. निर्विशेष आत्मा के विषय में मैत्रेयी की शंका और याज्ञवल्क्य का समाधान

स होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपिपत्र वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छितिधर्मा॥१४॥ वह मैत्रेयी बोली, ‘यहाँ श्रीमान् मुझे मोह को प्राप्त करा दिया है। मैं इसे विशेषरूप से नहीं समझती।’ उन्होंने कहा, अरी मैत्रेयी! मैं मोह की बात नहीं कर रहा हूँ। अरी! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और अनुच्छेदरूप धर्मवाला है।

वह बोली-यहाँ इस प्रज्ञानघन के विषय में ही, मरने पर इसकी संज्ञा नहीं रहती, ऐसा कहकर श्रीमान ने मुझे मोह में-मोह के बीच में ‘आपीपिपत्’ प्राप्त करा दिया है अर्थात् मुझे सम्मोहित कर दिया है। अतः इस उपर्युक्त लक्षण वाले आत्मा को मैं विवेकपूर्वक नहीं समझती।

उन्होंने कहा-मैं मोह की बात नहीं कहता, क्योंकि हे मैत्रेयी! यह आत्मा अविनाशी है, जिसके विनष्ट होने का स्वभाव हो उसे विनाश कहते हैं, जो विनाशी न हो वह अविनाशी कहलाता है, विनाशी शब्द से विकार सूचित होता है, अतः आत्मा अविनाशी अर्थात् अविकारी है। अरी मैत्रेयी! यह आत्मा, जिसका प्रस्फुरण है, अनुच्छितिधर्मा है-उच्छिति उच्छेद को कहते हैं, उच्छेद-अन्त अर्थात् विनाश, उच्छिति जिसका धर्म हो उसे उच्छितिधर्मा कहते हैं, जो उच्छितिधर्मा नहीं है वही अनुच्छितिधर्मा कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इसका न तो विकाररूप विनाश होता है और न उच्छेदरूप ही।

10. उपदेश का उपसंहार और याज्ञवल्क्य सन्यास

चारों ही प्रपाठकों में एक ही समान आत्मा का निश्चय किया गया है, वह परब्रह्म है किन्तु उसके बोध के लिये उपायविशेष भिन्न-भिन्न है, उपेय तो वह आत्मा ही है, जिसका चतुर्थ प्रपाठक (तृतीय अध्याय) में प्राण रूप पण के उल्लेख द्वारा शाकल्य याज्ञवल्क्यसंवाद में और फिर यहाँ उपनिषद् की समाप्ति में भी उसीका निर्णय किया गया है। इन चारों ही प्रपाठकों का तात्पर्य इस आत्मा में ही है इनके बीच में कोई भी अर्थ विवक्षित नहीं है-यह दिखाने के लिये अन्त में ‘स एष नेति नेति’ इत्यादि उपसंहार किया गया है।

चूँकि तत्व का सैकड़ों प्रकार से निरूपण होने पर उसका पर्यवसान ‘नेति नेति’ इस प्रकार से निरूपण किये गये आत्मा में ही है, युक्ति अथवा शास्त्र से कहीं अन्यत्र उसका तात्पर्य नहीं देखा जाता, अतः यह जो ‘नेति नेति’ इस प्रकार आत्मा का परिज्ञान होना तथा सम्पूर्ण कर्मों का सन्यास करना है, वही अमृतत्व का साधन है-इस प्रकार इस अर्थका उपसंहार करने की इच्छा से याज्ञवल्क्य जी कहते हैं- यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिद्विति तदितर इतरं रसयते तदितर इतरमभिवदति जदितर इतरं शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् न कं जिद्वत् तत् केन कं रसयेत् तत् केन कमभिवदेत् तत् केन कं शृणुयात् तत् कं मन्वीत तत् केन कं स्पृशेत् तत् केन कं विजानीयाद् येनेद् सर्वं विजानाति तं केन विजानीयत् स एष नेति नेत्यात्मागृह्णो न हि गृह्णतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तनुशासनासि मैत्रेयेतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्तवा याज्ञवल्क्यो विजहार॥१५॥ जहाँ (अविद्यावस्था में) द्वैत-सा होता है, वहाँ अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का मनन करता है, अन्य अन्य का स्पर्श करता है, अन्य अन्य को विशेषरूप से जानता है। किन्तु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सूंधे, किसके द्वारा किसका रसास्वादन करे, किसके द्वारा किसका स्पर्श करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा पुरुष इस सबको जानता है, उसे किस साधन से जाने? वह यह ‘नेति-नेति’ इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृह्ण है-उसका ग्रहण नहीं किया जाता, अशीर्य है-उसका विनाश नहीं होता, असंग है-आसक्त नहीं होता, अबद्ध है-वह व्यथित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयी! विज्ञाता को किसके द्वारा जाने? इस प्रकार तुझे उपदेश कर दिया गया। अरी मैत्रेयी निश्चय जान, इतना ही अमृतत्व है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य जी परिव्राजक (सन्यासी) हो गये।

हे मैत्रेयी! ‘एतावत्’-बस, इतना ही जो कि यह ‘नेति-नेति’ इस प्रकार अद्वैत आत्मा का साक्षात्कार करना है, वही किसी दूसरे सहकारी कारण की अपेक्षा से रहित अमृतत्व साधन है। तूने जो पूछा था कि श्रीमान् जो अमृतत्व का साधन जानते हों, वही मुझे बतलाइये, सो वह साधन इतना ही है-ऐसा तुझे जानना चाहिये। इस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को यह अमृतत्व का साधनरूप आत्मज्ञान बतलाकर याज्ञवल्क्य ने क्या किया? जिसकी उन्होंने पहले प्रतिज्ञा की थी कि मैं परिग्राजक (सन्यासी) होने वाला हूँ वही किया अर्थात् परिग्राजक हो गये।

इस प्रकार जिसका सन्यास में पर्यवसान हुआ है, वह ब्रह्मविद्या समाप्त हुई। इतना ही उपदेश है, यही वेद की आज्ञा है, यही परमनिष्ठा है और यही पुरुषार्थ अर्थात् कर्तव्यता का अन्त है।

स्रोत

¹. सं वा 9

². क०३० २/१/१

³. उद्गीथ एक यज्ञकर्म का अङ्ग है

⁴. वह प्रेयः कामिनी थी, उस धन में ही उसका सारा सुख निहित था

⁵. द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण का दसवां मंत्र भी इसी प्रकार है, परन्तु वहाँ ‘व्याख्यानानि’ तक कहा है। ये सब शब्दमय निःश्वास हैं। यहाँ ‘इष्टं हुतं.....सर्वाणि च भूतानि’ इतना पाठ अधिक है। ये सब अर्थरूप निःश्वास हैं। अतः वहाँ शब्द निःश्वासों से ही अर्थनिःश्वासों का भी उपक्षण समझना चाहिये)

राग-ध्यान

गरिमा गुप्ता* एवं डॉ. अलका शर्मा**

लेखक का धोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित राग-ध्यान शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखक गरिमा गुप्ता एवं अलका शर्मा धोषणा करते हैं कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेते हैं, क्योंकि हमने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देते हैं। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह हमारी मौलिक कृति है। हम शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देते हैं। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देते हैं।

कलाओं के मूर्त एवं अमूर्त स्वरूपों के अतिरिक्त रागों के स्वरूप एवं ध्यान का अनन्य महत्व होता है। रागों के भावाधारित अमूर्त व्यक्तित्व को मूर्त करने के कुछ सम्प्रदायों ने रागों के ध्यानों की रचना की है।

संगीत के क्षेत्र में ध्यान, राग की वह पद्धति है, जिसके अन्तर्गत संगीतज्ञ राग प्रस्तुत करने से पूर्व ही उसके स्वरूप का आभास होता है। यह ध्यान रूप महत्व का परिचायक होता है और लक्ष्य की प्राप्ति में राग को स्पष्ट करता है। राग अमूर्त है, परन्तु ध्यान राग के प्रतीकात्मक शरीर को जन्म देता है; क्योंकि जब संगीत नाट्य से अलग हुआ, तब निश्चितता के अभाव में उससे रिक्तता हो गई। संगीतज्ञों ने राग ध्यान के द्वारा उस कमी को पूरा करने का प्रयास किया और यह उस समस्या का वैज्ञानिक समाधान था।

राग ध्यान के माध्यम से जिस किसी राग द्वारा किसी विशेष भाव को प्रस्तुत करना होता था, उसकी परिस्थिति का सामान्य रूप राग ध्यान के द्वारा होता था। राग-ध्यान संगीतज्ञों को उसस्थिति में पहुँचाता है कि उसके द्वारा प्रदर्शित संगीत का प्रभाव अलौकिक होता है। बाद में राग ध्यान के सम्बन्ध में कवियों की विचार धारा की प्रमुखता होती गई तथा बाह्यरूप पर केन्द्रित होते हुये इसके मूल उद्देश्य से ध्यान को हटा दिया। क्योंकि यह कदु सत्य है कि जब कलाकार को राग भाव संबंधी विशिष्ट व्यक्तित्व की पहचान ही नहीं होगी, यथार्थ रूप में राग की अवतारणा ही नहीं होगी, तब तक श्रोताओं को रसानंद की अनुभूति कैसी होगी। हर एक राग और रागिनी का अपना स्वर-विधान होता है, रस-विधान होता है और इसी के अनुसार प्रस्तुति में सरसता उत्पन्न होती है।

राग वह माध्यम है जिससे इस कला की रस प्रसवणा अनूठी क्षमता का बोध होता है। जब उसके गहन बोध हेतु सहज मार्ग की आवश्यकता अनुभव हुई तब उसकी मूर्तिता का सैद्धान्तिक उपक्रम निर्धारित करना पड़ा जिससे शास्त्रज्ञों ने राग-ध्यान से सम्बोधित किया।

* शोध छात्रा, आर. जी. [पी. जी.] कॉलेज, मेरठ (उत्तर प्रदेश) भारत
** रीडर एवं विभागाध्यक्ष, आर. जी. [पी. जी.] कॉलेज, मेरठ (उत्तर प्रदेश) भारत

ध्यान का अर्थ है- 1. मनन विमर्श, 2. विशेष रूप से सूक्ष्म चिंतन धार्मिक मनन, 3. दिव्य अन्तर्ज्ञान या अन्तर्विवेक, 4. किसी देवता का, उपाधियों का मानसिक चिंतन। ध्यान एक साधना है और यही किसी अमूर्त या मूर्त रूप दर्शने में अत्यन्त आवश्यकता होता है। तभी राग के साथ ध्यान शब्द सैद्धान्तिक रूप से जोड़ दिया गया।

संगीत में बहुत पहले से ही मार्ग और देशी परम्पराओं में विभाजक रेखा अंकित होती चली आ रही है। वेदकाल के अंत में गान्धर्व संगीत लौकिक कला के रूप में उद्भुत हुआ। इससे भी पहले प्रबंध, गाधा, नाराशंसी आदि संगीत शैलियों को सामग्रान से कम स्तर का मानकर एक अलग श्रेणी दी गई। परवर्ती चिन्तकों ने राग के सम्बन्ध में राग ध्यान की परम्परा का उल्लेख किया है। यह कला देशी हो या मार्गी, लेकिन आध्यात्म सापेक्ष होने का अपना मौलिक दायित्व इसने नहीं छोड़ा।

अब तक जितने चिन्तकों ने राग-ध्यान पर विचार किया है वे राग-रागनियों से सम्बद्ध भावचित्रों को दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं- 1. तान्त्रिक, 2. लौकिक।

रागों का काव्य के आधार पर ध्यान किया जाता है। पुनः उस ध्यान के भाव को सुन्दर चित्र में व्यक्त किया जाता है। काव्य, संगीत और चित्र इन तीन कलाओं की, जो त्रिवेणी हमारे संगीत में बहती है वह अनुपम है।

राग के देवतामय रूप के आवाहन के लिये ध्यान किया जाता है। उस ध्यान में वर्णित रूप उस देवता का बीज मंत्र हो जाता है। राग के ध्यान का तात्पर्य यह है कि उस राग की प्रकृति अथवा आत्मा या देवमय रूप के चित्र को इस प्रकार मन में समाहित किया जाये कि वह नादमय रूप में उतर आये। किसी भी राग को देवता-स्वरूप में ध्यान करने से राग में शक्ति आ जाती है और वह सजीव हो उठता है।

राग-ध्यान एक विशेष प्रक्रिया है। पहले गायक या वादक को राग के रस, रूप, देवता पर शान्त चित्त से ध्यान करना चाहिये, फिर धीरे-धीरे उस राग के स्वरों में उस देवता का आवाहन करना चाहिये; तब ध्यान मानसिक नहीं रहता, वाचिक हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि राग के प्रत्येक स्वर में राग की प्रकृति ओत-प्रोत हो जाती है। तब उसके नादमय रूप में राग के प्राण झंकृत हो उठते हैं, जो ध्यान लिखे गये हैं उनमें चित्र समाहित करने की क्रिया तो है ही परन्तु विशेष रूप में वह चित्त-सम्मोहित करने का साधन है।

स्रोत

उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास -पं० विष्णु नारायण भातखण्डे, संगीत कार्यालय, हाथरस
कानून-ए-सितार-मु० सफदर हुसैन खाँ, प्रकाशक -नवल किशोर प्रेस, लखनऊ
खुसरों, तानसेन तथा अन्य कलाकार -आचार्य वृहस्पति एवं श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्र०सं० 1976
तन्त्रीनाद -डॉ० लालमणि मिश्र, साहित्य रत्नालय, कानपुर
भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद -डॉ० प्रकाश महाडिक, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
निबन्ध संगीत -डॉ० लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस
नाद-विनोद -पन्नालाल गोस्वामी, नारायणदास जंगलीमल, दिल्ली (1856)
नाट्यशास्त्र -भरतमुनि औत, सम्पादक - डॉ० रविशंकर, संस्औत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

अप्रचलित रागों के प्रचार-प्रसार एवं संरक्षण की आवश्यकता

डॉ. रूपाली जैन*

लेखक का धोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित अप्रचलित रागों के प्रचार-प्रसार एवं संरक्षण की आवश्यकता शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका मैं रूपाली जैन धोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कार्पोरेइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

स्वर और वर्ण से विभूषित उस धनि विशेष को राग कहा गया, जो मनुष्य के हृदय का रंजन करने की क्षमता रखती हों। राग-गायन की मूल प्रेरणा प्राचीन जाति गायन में निहित रही है। जातियाँ मूलतः लोक-धुनों का परिष्कृत रूप थी, इसलिए उन्हें तत्कालीन शास्त्रीय संगीत में सम्मानित स्थान प्राप्त था। जाति गायन के कुछ निर्दिष्ट नियम थे, जिनका पालन गायकों के लिए जरूरी था। इन्हें जाति-लक्षण कहा गया, जो प्रायः दस थे- ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव तथा औडव। जातियों के ये सभी लक्षण बाद में रागों के लिए भी ज्यों-की-त्यों जरूरी मान लिए गए; लेकिन जाति में राग तक की इस यात्रा में उल्लेखनीय परिवर्तन आ गया। जाति-गायन में जहाँ नियमों का कठोरता से पालन करने पर जोर दिया जाता था, वहाँ राग गायन रंजकता को केन्द्र में रखकर उन नियमों से अब कुछ छूट लेने लग गया। सामाजिक रुचि परिवर्तन से निरपेक्ष जाति-गायन ज्यों-ज्यों नियमों के कठोर बंधन में बंधता चला गया, त्यों-त्यों उसका सिंहासन खिसककर राग-गायन की प्रभुता स्वीकार करता गया।

‘राग’ विभिन्न लक्षणों की एक समष्टि है जो अपने आधारभूत स्वरूप को बनाये रखते हुए भी असंघ्य भावमय स्वर विनिर्माण करने में सक्षम है। राग के सभी तकनीकी पक्ष नवीन स्वर रचना का आधार है, जिस कारण एक ही स्वरावली होते हुए भी स्वरों के कोमल तीव्र भेद, वादी-संवादी, न्याय स्वर, मीड कण, अनेकानेक इत्यादि के भेद से मेल, थाट एवं रागांगों के आधार पर नित नवीन राग ऐतिहासिक विकास क्रम में सृष्ट हुए, प्रचार में आये एवं गाये बजाए गए तथा आज भी गाये बजाये जाते हैं। ऐतिहासिक विकास क्रम में जाति, ग्राम-राग देसी राग, इत्यादि सोपान को पार करता हुआ प्रयोगात्मक पक्ष परिवर्तन के दौरान में गुजरा है जिसके फलस्वरूप प्राचीन ग्रंथों में वर्णित राग आज के रागों से स्वरूप में साम्य नहीं रखते। मध्ययुग में विदेशी संपर्क से भारतीय संगीत के अंतर्गत कई मत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिन्हें स्वरों, स्वरग्रामों, ग्राम शैलियों, वाद्य यंत्रों, रागों, तालों, गायकी आदि में लक्षित किया जा सकता है।

* अतिथि प्रवक्ता, शास. गृह विज्ञान कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

इस युग में विदेशी संपर्क से प्रचलित रागों में से अधिकांश आधुनिक युग तक आते-आते विलुप्त हो गए या उनके स्वरूप में परिवर्तन हो गया। इसका एक कारण मौखिक परंपरा का होना, लिखित परम्परा का अभाव कह सकते हैं। मध्यकालीन राग चिंतन का विस्तार मात्र है। उसकाल में जो भी राग प्रचलन में रहें उनका लक्षण ग्रंथों में रागरूप प्राप्त होने पर भी प्रचार से वे अधिकांश राग लुप्त हो गए। उस दौर में जिन-जिन खण्डों से रागों का निर्माण हुआ एवं प्रचार रहा, वह विभिन्न घरानों के भीतर ही सीमाबद्ध हो गया। चूंकि संगीत का समाज में बहुत-प्रचार नहीं था अतः अभिजात वर्ग की परिधि में ही राग बने एवं गाये बजाये जाते रहे।

19 वीं शताब्दी के बाद पुनः परिवर्तन का दौर आया। पं. विष्णु नारायण भातखण्डे एवं पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी के अथक प्रयास से संगीत, समाज के आम लोगों के बीच अपना अस्तित्व बनाने लगा। संगीत प्रदर्शन से परे उस पर उसके लक्षणों पर भी अध्ययन होने लगा। एवं संगीत का सांगोपांग अध्ययन क्रम में उसकी अमूल्य थाती ‘राग’ एवं उसकी विभिन्न रचनायें, बंदिशें, स्वरूप इत्यादि में भी व्यापक प्रसार व विस्तार हुआ संभवतः मध्यकाल से अब तक की अवधि में जितने नवीन राग बने उससे ज्यादा पूर्ववर्ती प्रचलित राग प्रचलन से लुप्त होकर अप्रचलित रागों की श्रेणी में आ गए क्योंकि राग से संबंधित अनेक मर्यादाओं के पालन की कठोरता एवं रुढ़ियों के रागों के प्रदर्शन को सीमित कर दिया। इसलिए राग अप्रचलित हो गए।¹

जो राग प्रचलित हुए हैं वे सुंदर, रंजक, परिपक्व और कलामाधुर्य के गुणों से भरपूर थे। जो राग प्रचलित नहीं हुए उन्हें गाया नहीं गया। जिन रागों को गाया नहीं गया, उन पर मेहनत और कड़ी तपस्या की जाए तो उनमें से बहुत से राग प्रचलित हो सकते हैं।²

अप्रचलित होने के कारण

1. जिनका विस्तार क्षेत्र सीमित था।
2. रंजकता का अभाव
3. संकीर्ण स्वरूप के कारण
4. गुणीजन ने नवीन राग बनाए परन्तु शिष्यों को नहीं सिखाए।
5. रागों के समय सिद्धांत को मानने की रुढ़ि से भी सांगीतिक महफिलों, सभाओं में राग प्रस्तुत नहीं हो पाते।
6. स्वरों के कोमल तीव्र भेद में
7. दो रागों को जोड़कर
8. आधार राग में दूसरे राग का रागांग जोड़कर
9. जाति में परिवर्तन कर

ऐसे कई कारण हैं जिससे राग अप्रचलित हों गए, परन्तु हमें उन अप्रचलित रागों को प्रचलन में लाने के लिए प्रयास करने चाहिए।

अप्रचलित रागों के संरक्षण की आवश्यकता

कुछ घरानों में ऐसी रुढ़ि चली आ रही है कि वे केवल आम रागों को ही महत्व देते हैं, और जहाँ तक उनका बस चलता है, अन्य कलाकारों को भी अप्रचारित रागों के गाने बजाने के लिए हतोत्साहित करते हैं, कभी-कभी तो उनका मजाक भी बनाने से नहीं चूकते हैं।

कुछ कलाकार अवश्य ऐसे हैं, जो रचनाकार भी होते हैं। वे अपनी रचना का अपने कलाकार गुण के कारण प्रचार-प्रसार कर ही सकते हैं और करते भी हैं।

अप्रचलित राग या अक्षोष राग हमारी सांस्कृति का अमूल्य खज़ाना है। जिसे खोज कर बाहर लाने का प्रयास करना चाहिए। प्रचलित राग एवं अप्रचलित राग, सभी को सात स्वरों ने जन्म दिया है। सभी कलाकारों एवं नए छात्र-छात्राओं द्वारा अप्रचलित रागों को प्रचार में लाने, उसे अपनाने की पहल करनी चाहिए, क्योंकि ये सभी रागे हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं।

अप्रचलित रागों के संरक्षण के उपाय

- महाविद्यालयीन संगीत पाठ्यक्रम में प्रतिवर्ष एक थाट के दो अप्रचलित रागों को सम्मिलित किया जाए। उन अप्रचलित रागों की बंदिशें सिखाई जाएं, जो प्रायोगिक परीक्षा में अनिवार्य रूप से सम्मिलित हों।
- प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कलाकारों को अपने प्रस्तुतिकरण में कम से कम एक अप्रचलित राग को शामिल करना चाहिए, जिससे सुधी श्रोताओं को भी राग की जानकारी हो।
- आधार राग में दूसरे राग का रागांग जोड़कर बनने वाले कई रागों की जानकारी विस्तृत रूप से जानकारी देना। विद्यार्थियों को विश्लेषाणात्मक अध्ययन की दिशा में तैयार करना।

अप्रचलित रागों की बंदिशें बनाकर, उसे रिकार्ड कर संग्रहित करना, रेडियो एवं टेलिविजन के माध्यम से इन रागों का प्रसारण भी एक अच्छी पहल है।

कुछ विद्वान् इस दिशा में कार्यरत रहे हैं; जिनमें प्रमुख हैं- पं. मल्लिकार्जुन मंसूर, पं. रामाश्रय झा, पं. बलवन्त राय भट्ट, अश्विनी भिड़े देशपांडे आदि। प्रचलित रागों का स्थान-रूचि भेद के कारण अन्य रागों ने लिया होगा, आज तक रचे गए सभी रागों का संरक्षण एवं प्रयोग हमारे संगीत की समृद्धि एवं गौरव का परिचायक है।

वर्तमान में उत्तर भारतीय संगीत में राग ठाठ पञ्चति को माना जाता है। पं. विष्णु नारायण भातखण्डे द्वारा इसकी रचना की गई है। इन दस ठाठों से रागों की उत्पत्ति हुई है। इन दस ठाठों से उत्पन्न अप्रचलित राग इस प्रकार है :

विलावल ठाठ; सुखिया, औडवदेवगिरी, लच्छासाख, कुकुभ, नटनारायण, रसचन्द्र, लाजवंती, चंद्रिका, रसरंजनी, भवानी, कामोदनाट, केदारनाट, छाया, छाया तिलक, पहाड़ी, चंपक, मॉड, मेवाड़ा, दीपक, जनरंजनी, नागर्नांदिनी, पार्वती, आदि।

कल्याण ठाठ; चन्द्रकांत, सावनी कल्याण, हंसकल्याण, सामंतकल्याण, खेमकल्याण, वैजन्ती, रेवतीकान्हडा, शिवरंजनी, नीलांबरी, तीव्रकल्याण, पहाड़ी, हेमकल्याण, जयंत कल्याण इत्यादि।

खमाज ठाठ; खम्बावती, गारा, सौरठ, चांदनी बिहाग, नागस्वरावती, प्रतापवराली, नारायणी, सावन, माधुरी, निशासाख आदि।
काफी ठाठ; जिल्ला काफी, मुद्रिकी कान्हडा, हुसैनी कान्हडा, धानी, सैंधवी, सिंध, बरवा, पंजाबी बरवा, बडहंससारंग, सामंतसारंग, लंकादहनसारंग, नूरसारंग, देवसाख, मीराबाई की मल्हार, चरजू की मल्हार, चंचलसम मल्हार, धूलिया मल्हार, रुपमंजरी मल्हार, श्री रंजनी, रेवतीकान्हडा, नीलांबरी, आदि।

भैरव ठाठ; बंगाल भैरव, आनंद भैरव, मंगल भैरव, प्रभात भैरव, शिव भैरव, गौड भैरव, भिन्न भैरव, प्रभात, तिलंग भैरव, बसंत भैरव, भैरव बहार आदि।

पूर्वी ठाठ; रेवा, त्रिवेणी, टंकी, मनोहर, गौरांजनी, मालवश्री, आदि।

मारवा ठाठ; भंखार, मालीगौरा, वराटी, साजगिरि, धन्य धैवत, हंसनाद, पंचम, ललितागौरी, आदि।

भैरवी ठाठ; आभावती, शुद्ध सावंत, मोटकी, आदि।

तोड़ी ठाठ; लक्ष्मी तोड़ी, वहादुरी तोड़ी, हेमवती, लाचारी तोड़ी, बैराणी तोड़ी, अंजनी तोड़ी, आदि।

आसावरी ठाठ; जंगला, झीलफ, चापधंटारव, जोगवर्ण, लीलावती, खट, कोकिलपंचम, शोभावरी, आभेरी, आनंदभैरवी, अमृतवाहिनी, आदिभैरवी, कळपावती, चन्द्रिकाभैरवी, जोगभैरवी, झंकार ध्वनि, नटभैरवी, नाटमंगल, भोगी, मॉझी, लंकदहन, सामेरी, शुद्ध देसी, हेमक्रिया, रुद्रगांधार, शाममुखारी, कौशिक रंजनी, गूँजकान्हडा, नटखट, मूर्ति, उदयचन्द्रिका, कृपावती, आभेरी तोड़ी आदि।⁴

ध्रुपद-धमार गायकी की डागर परंपरा के वरिष्ठ प्रयोक्ता प्रो. ऋत्विक सान्याल के शब्दों में इस प्रकार है, अप्रचलित रागों के गायन के पीछे नवीनता का आग्रह होता है। Untouched Beauty को खोजना एवं उसे Explore करने का विशिष्ट आनंद है। आपके मतानुसार, डागर परम्परा में अद्भुत कल्याण चंपाकली, कनकांगी, वर्धनी, पल्लाश मुल्तान, रुपेश्वरी, जोगेश्वरी, काम्भोजी, बागधीश्वरी, गांगेयभूषणी एवं पंचम कौंस इत्यादि रागों का प्रचलन दीर्घकाल से डागर धराने के उस्ताद जियाफरीदुद्दीन डागर द्वारा मृगकौंस, भिन्न पंचम, मालविका, मालती, श्याम भैरव इत्यादि रागों का गायन सुनने को मिला है।⁴

ऋग्मिक पुस्तक मालिका भाग 6 में मीराबाई की मल्हार, चरजू की मल्हार धूलियामल्हार, मालीगौरा, पंचम बरवा, मियॉ की सारंग, लंकादहन सारंग, आदि की रचनायें दी गई हैं।

कई महत्वपूर्ण पुस्तकों एवं ग्रंथों में भी अप्रचलित रागों का वर्णन मिलता है।

ऋग्मिक पुस्तक मालिका भाग 5 में जैत कल्याण, मालश्री, कुकुभविलाबल, मलुहाकेदार, पटमंजरी, गारा, शिवमतभैरव, मालवी, आदि रागों में बंदिशे मिलती हैं।

संगीतांजलि के द्वितीय भाग में पं. ओंकारनाथ ठाकुर ने खट, झीलफ आदि रागों में बंदिशों का वर्णन किया है। पं. वलवंत राय भट्ट जी ने अपने ग्रन्थ 'भाव रंगलहरी' के द्वितीय भाग में भैरव बहार, जलधर केदार आदि रागों में धमार के पदों का वर्णन किया है।

श्री कृष्णानन्द जी व्यास ने अपने ग्रन्थ 'राग कल्पद्रुम' के भाग एक और दो में देसी तोड़ी, धनाश्री, सिंधु, चैतीगोड़ी, बरारी, सरपरदा आदि रागों में धमार का वर्णन किया है।

राजा नवाब अली कृत 'मारिफुन्नगमात' के द्वितीय भाग में कुकुभ मुद्रिकीकान्हडा, देवसाख, पटमंजरी, लाचारी तोड़ी, कोमलदेसी, आदि रागों में होरी गीत (धमार) की रचनाओं का वर्णन किया गया है।

पुष्टि संगीत प्रकाश¹ ग्रन्थ में श्री भगवती प्रेमशंकर भट्ट जी ने कृष्ण बसंत, हेमबसंत, आदि रागों में रचनाएं दी है।

संगीत सुधा सागर² सेनिया घराने के श्री प्राणकृष्ण चट्टोपाध्याय द्वारा रचित इस ग्रन्थ में अधिकतर रचनायें अप्रचलित रागों की ही हैं, जैसे- प्रथम मंजर, श्री टंकी, धवल श्री, योगिनी, सुरलय, बडहंसी, नटनारायण, आदि।

पं. अहोबल कृत 'संगीत पारिजात' ग्रन्थ में राग प्रकरण के अंतर्गत 125 रागों का वर्णन किया गया है। उनमें से कुछ ही राग प्रचलित हैं। तथा अधिकतर अप्रचलित हैं, जैसे- 1. सैंधव, 2. 3-4 धनाश्री के तीन प्रकार, 5. मल्लार या मेघ, 6. नीलांबरी, 7. मालवश्री, 8. रक्तहंस, 9. गौरी, 10. मल्लारी, 11. पंचम, 12. वसंत, 13. देशाख्य, 14. देशकारी, 15. मुखारी, 16. भैरवी, 17. भूपाली, 18. प्रसभ, 19. कोल्लहास, 20. भैरव, 21. बसंतभैरव, 22. मध्यमाद, 23. बंगाली, 24. नारायणी, 25. विभास, 26. कानड़ी, 27. मेघनाद, 28. तोड़ी, 29. छायातोड़ी, 30. मार्गतोड़ी, 31. घण्टाराग, 32. वराटी, 33. शुद्धवराटी, 34. वराटीतोड़ी, 35. नागवराटी, 36. पुन्नागवराटी, 37. प्रताप वराटी, 38. शोकवराटी, 39. कल्याणवराटी, 40. खम्बावती, 41. आभीरिका, 42. कल्याण, 43. रामकी, 44. सारंग, 45. मालव. 46. गुणक्रिया, 47. कुकुभ, 48. शंकराभरण, 49. बडहंस, 50. बेलावली, 51. केदारी, 52. काम्बोधी, 53. गोपी काम्बोधी, 54. दीपक, 55. ललिता, 56. बहुला, 57. दाक्षिणात्य गुर्जरी, 58. औंतरागुर्जरी, 59. कौमारी, 60. रेवा, 61. गौल. 62. केदारगौल, 63. कर्णाटगौल, 64. सारंगगौल. 65. रीतिगौल, 66. नारायणगौल, 67. मालवगौल, 68. देशी, 69. हिंदोल, 70. मार्गहिंदोल, 71. ढक्क, 72. नट, 73. नट, 74. सालंकनाट, 75. छायानाट, 76. कामोदनाट, 77. आभीरीनाट, 78. कल्याणनाट, 79. केदारनाट, 80. वराटीनाट, 81. आसावरी, 82. सावेरी, 83. सालंग, 84. श्रीराग, 85. पहाड़ी, 86. विहंगङ्गः, 87. विहंगङ्गः, 88. पूर्वी, 89. पूर्वीसारंग, 90. सामंत, 91. मंगलकोश, 92. नादरामक्रिया, 93. सौदामिनी, 94. गौड़, 95. देवगिरी, 96. देवगान्धारी, 97. त्रिवेणी, 98. कुरंग, 99. सौदामिनी, 100. वैजयन्ती, 101. हंस, 102. कोकिल, 103. जयश्री, 104. सुरालय, 105. अर्जुन, 106. ऐरावत, 107. कंकण, 108. रत्नावली, 109. कल्पतरु, 110. सोरठी, 111. मारु, 112. कुमुद, 113. चक्रधर, 114. सिंहरव, 115. मन्जुघोषा, 116. शिवबल्लभ, 117. मनोहर. 118. आन्नदभैरवी, 119. शंकरानन्द, 120 मानवी, 121. राजधानी, 122. सरवरी, 123. शुद्धकौशिक, 124. तैलंग, और 125. भीमपलासिका³

स्रोत

¹संगीत, अप्रचलित राग ताल अंक, 1 लक्ष्मी नारायण गर्ग (जनवरी-फरवरी 1983), पृष्ठ संख्या 5, 11, 17

²अप्रचलित राग और ताल -प्रो० स्वतंत्र शर्मा (2011), इलाहाबाद; उत्तर प्रदेश भारत, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ संख्या 19

³ऋग्मिक पुस्तक मालिका भाग-5, 6 -प० विं००८० श्री भातखण्डे (अगस्त-1995, दिसम्बर-1999), हाथरस; संगीत कार्यालय हाथरस, पृष्ठ संख्या 7, 8, 9

⁴ध्रुपद चर्चा -विशाल जैन (2009), वाराणसी; युगान्तर प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 145

⁵संगीत, अप्रचलित राग ताल अंक, 1 लक्ष्मी नारायण गर्ग (जनवरी-फरवरी 1983), पृष्ठ संख्या 23

मानव निर्माण कर सके, ऐसी शिक्षा चाहिए

प्रो. अंजली श्रीवास्तव*

लेखक का धोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित मानव निर्माण कर सके, ऐसी शिक्षा चाहिए शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका मैं अंजली श्रीवास्तव धोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

सारांश

शिक्षा की महत्ता जितनी बताई जाये, कम है पर विद्या को ज्ञान चक्षु की उपमा दी गई है। उसके अभाव में मनुष्य अंधों के समतुल्य माना जाता है। विद्या सर्वोपरि धन है। विद्या मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव और व्यक्तित्व का विकास करती है। प्रतिभा को समुन्नत और सुसंस्कृत बनाती है। कोरी शिक्षा तो भ्रष्ट चिंतन और दुष्ट आचरण द्वारा मनुष्य को और अधिक खतरनाक बना देती है। आज की शिक्षा में व्यक्तित्व निखारने वाले एवं प्रतिभा को प्रखर बनाने वाले लक्ष्यों का समावेश नहीं है। देश में ऐसी शिक्षा की कमी है, जिसमें विद्या का समुचित समावेश हो।

जो मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक विकास कर सके, मनुष्य को जीवन जीने की कला सिखाए, जीवन को सरल-सहज और सुन्दर बना सके, उसे परतंत्रता से निकाल कर आत्म निर्भर बना सके, मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान कर सके, साथ ही मनुष्य को समाज के लिए उपयोगी बना सके, वही शिक्षा सच्ची शिक्षा कही जा सकती है। हमारे देश में ऐसे महान दार्शनिक ऋषि हुए हैं जिन्होंने शिक्षा के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, ‘महर्षि अरविन्द का कहना है कि सच्ची और वास्तविक शिक्षा केवल वही है जो मानव की अंतर्निहित समस्त शक्तियों को इस प्रकार विकसित करती है कि वह उनसे पूर्ण रूप से लाभान्वित होता है। इस तरह शिक्षा के दो मुख्य कार्य हैं- पहला कार्य है- मनुष्य को उसके अपने विकास क्रम का स्पष्ट ज्ञान कराना और दूसरा कार्य है- उसमें सत् तक पहुंचने की शक्ति का विकास करना।

महान दार्शनिक डॉ.राधाकृष्णन् भी मनुष्य को सही अर्थों में मनुष्य बनाने के लिए शिक्षा को सर्वाधिक आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार शिक्षा वह है, जो मनुष्य को ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ उसके हृदय व आत्मा का विकास करती है और उसे स्वयं के विकास के साथ-साथ समाज एवं राष्ट्र के विकास तथा विश्व कल्याण की ओर अग्रसर करती है। इस तरह डॉ.राधाकृष्णन् शिक्षा द्वारा मनुष्य के सर्वांगीण अर्थात् उसके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं चारित्रिक तथा आध्यात्मिक

* सहायक प्राध्यापिका, अर्थशास्त्र विभाग, शासकीय महाराजा महाविद्यालय [सागर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध] छतरपुर (मध्य प्रदेश) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

विकास पर बल देते थे। उनका विचार यह भी था कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा (क्षेत्रीय भाषा) होनी चाहिए, क्योंकि विदेशी भाषा अंगरेजी में भारतीय मौलिक चिन्तन नहीं कर सकते।

शिक्षा के संबंध में स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं कि जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा है और हमें वास्तव में ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे बच्चों का चरित्र निर्माण हो सके, उनकी मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो और देश के युवक अपने पैरों पर खड़े होना सीखें। वे भारत में ऐसी शिक्षा चाहते थे जिसमें उसके अपने आदर्शवाद के साथ पाश्चात्य कुशलता का सामंजस्य हो। स्वामी जी ने व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाने वाली शिक्षा का उपदेश दिया है। लोकमंगल के लिए समर्पित जीवन तथा संस्कृति के महान आदर्शों के लिए मर-मिटने का साहस उत्पन्न करने वाली शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। स्वामी जी का मानना था कि जानकारियों से मन को भर देना ही शिक्षा नहीं है बल्कि मन रुपी यंत्र को योग्य बनाना और उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना ही शिक्षा है।

युग ऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार शिक्षा का सीधा अर्थ सुसंस्कारिता का प्रशिक्षण है, इसे नैतिकता, सामाजिकता, सज्जनता, प्रमाणिकता आदि किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि पढ़ाई पूरी करने के उपरान्त विद्यार्थी सब और अपने लिए द्वारा खुले देखे। उसे यह अनुभव न हो कि सरकारी नौकरी न मिले तो यह उसके लिए दुःख की बात है। अतः शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य वह ज्ञान है, जो व्यक्तिगत, शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक तथा सामाजिक समस्या का स्वरूप और समाधान बता सकने में समर्थ हो। स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम देश के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग करना जाने। वास्तविक शिक्षा वह है जिसके प्रयोग से देश की पैदावार में वृद्धि हो, खानों से अधिक खनिज पदार्थ मिलें, व्यापार अधिक उन्नतिशील हो, शरीर क्रियाशील हो, मस्तिष्क की मौलिकता में अभिवृद्धि हो, हृदय परिष्कृत हो एवं राष्ट्र अधिक संगठित और एकता के भावों से संपन्न बने।

आधुनिक शिक्षा पद्धति युग की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पा रही है। शिक्षा और साक्षरता में अभिवृद्धि हुई अवश्य है, सूचना जगत में जानकारियों का विस्फोट हुआ है। ढेरों कॉलेज खुले हैं। तकनीकी-गैर तकनीकी दोनों क्षेत्रों में भारत की शिक्षा का डंका बज रहा है परन्तु इसके साथ ही बौद्धिक चतुरता, संकीर्णता एवं स्वार्थपरता में भी बढ़ोत्तरी हुई है। शिक्षा से चरित्र का निर्माण होता है, पर ऊंची शिक्षा पाने वाले शिक्षित वर्गों ने तो सबसे पहले अपने चरित्र को ही छो दिया है और इसका प्रमुख कारण है शिक्षा की निरी व्यावसायिकता। जब शिक्षा व्यवसाय बन जाये, व्यवसायियों के हाथ लग जाये तो उससे उपेक्षित आशा संभव नहीं हो सकती। वर्तमान शिक्षा पद्धति आंकड़ों एवं जानकारियों में सिमट कर रह गई है; क्योंकि अच्छे रोजगार के लिए प्रयुक्त परीक्षा को इन्ही कसौटियों में से गुजरना पड़ता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में जीवन को समग्र रूप से विकसित करने की विद्या विद्यमान नहीं है। शिक्षा में संस्कृति के पक्ष का अभाव होने के कारण वह मात्र ‘साहबों’ का निर्माण कर रही है एवं उद्देश्य पूरा नहीं कर पा रही है, जिसके लिए उसका विधान बनाया गया था।

अंग्रेजों ने जिस पाश्चात्य शिक्षा पद्धति को हम पर लादा, उसका मूल उद्देश्य था- भारतीय ज्ञान-परंपरा का अवमूल्यन और राष्ट्रीय अस्मिता को जड़ से समाप्त कर देना। अंगरेज चले गये किन्तु अंगरेजी कहां गई, वह तो हमारी शिक्षा, शिक्षण संस्थाओं की नस-नस में भरी हुई है। शिक्षा की दुकानें खोल दी गई हैं। ऐसी शिक्षा राष्ट्र निर्माण का माध्यम तो क्या बनेंगी, वह तो एक ब्रह्म एवं मुनाफाखोर पीढ़ी तैयार करने का काम कर रही है। यह शिक्षा की इंडस्ट्री अब कई खरब रूपयों की हो गई है और निरंतर फलती-फूलती जा रही है।

मात्र शिक्षा-साक्षरता तो मनुष्य को निपट स्वार्थी भी बना सकती है। उसमें विद्या का समावेश अनिवार्य है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ‘वर्तमान समय में हम कितने ही राष्ट्रों के संबंध में जानते हैं, जिनके पास विशाल ज्ञान का भंडार है, परन्तु इससे क्या, वे बाय की तरह नृशंस हैं, बर्बरों के सदृश हैं, क्योंकि उनका ज्ञान संस्कार में परिणत नहीं हुआ है। सभ्यता की तरह ज्ञान भी चमड़े की ऊपरी सतह तक ही सीमित है, छिछला है और खरोंच लगते ही नृशंस रूप में जाग उठता है। हमें अपने विशाल राष्ट्र के लिए ऐसी शिक्षा नीति बनानी होगी, जिसमें शिक्षा और विद्या, सभ्यता और संस्कृति का सचमुच मेल हो। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में जीवन को समग्र रूप से विकसित करने की विद्या विद्यमान नहीं है।

शिक्षा जीवन के सर्वांगीण विकास की व्याख्या करती है। वह विकास की तकनीकी बनाती है। इससे पता चलता है कि जीवन को कैसे जिया जाये। बाहरी दुनिया में आत्मनिर्भरता की कला शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। वैसे ही अपने अन्तरिक जगत में चिंतन और चरित्र की समझ भी इसी के माध्यम से जानी एवं समझी जाती है। बाहरी जगत में व्यवहार पक्ष की महत्ता है तो स्वयं के अंदर सही सोच, पवित्र भाव एवं उत्कृष्ट चिंतन की आवश्यकता सर्वोपरि है। दोनों का मिलाजुला स्वरूप शिक्षा के द्वारा प्राप्त होता है। शिक्षा दोनों को एक साथ विकसित करती है।

आज की शिक्षा में इन मूलभूत बातों का कोई महत्व नजर नहीं आता है। प्राचीन काल में शिक्षा ज्ञानदान की पुण्य परंपरा थी, अब यह ऊँचे दामों में बेचने का व्यवसाय बन गई है। संपन्नता एवं व्यवसायीकरण की इस अंधी दौड़ में शिक्षा रुपी व्यवसाय तो फल-फूल रहा है, परन्तु शिक्षा का मूल उद्देश्य खो गया है। इन प्रतिष्ठानों में चिंतन, चरित्र और व्यवहार का कोई मूल्य नहीं रह गया है। जिस शिक्षा से सही समझ विकसित होती थी, चरित्र का महान बल पैदा होता था, विनम्रता एवं शिष्टता का नया प्रतिमान गढ़ा जाता था उससे आज बेरोजगार, मूल्यहीन और जीवन जीने की कला से अनभिज्ञ लोगों की फौज बढ़ती जा रही है। आचार्य श्रीराम शर्मा कहते हैं, 'देश के मनीषियों, विचारशीलों को शिक्षा में विद्या के इस अभाव की पूर्ति का भार अपने जिम्मे लेना चाहिए, व्यक्तित्व में उत्कृष्ट प्रगतिशीलता बढ़ाने के लिए प्रयास करना चाहिए'। सार्थकता उसी शिक्षा की है जो छात्र को विनम्र, सुव्यवस्थित एवं आदर्शवादी बना सके।

युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि सारी शिक्षा एवं समस्त प्रशिक्षण का एकमेव उद्देश्य मनुष्य का निर्माण होना चाहिए परन्तु हम यह न करके केवल बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का सदा प्रयत्न किया करते हैं। जहां व्यक्तित्व का ही अभाव है, वहां सिर्फ बहिरंग पर पानी चढ़ाने का प्रयत्न करने से क्या लाभ? सारी शिक्षा का ध्येय है- मनुष्य का विकास। वह मनुष्य जो अपना प्रभाव सब पर डालता है, जो अपने साथियों-सहयोगियों पर जादू सा कर देता है, शक्ति का महान केन्द्र है और जब वह मनुष्य तैयार हो जाता है तब वह जो चाहे कर सकता है।

सही शिक्षा वही है, जिसके द्वारा विद्यार्थी विचारों को आत्मसात कर सके, अच्छा इनसान बने, उसका व्यक्तित्व, चरित्र विकसित हो। साथ ही उसकी प्रतिभा व कुशलता का भी विकास हो, जिससे वह आत्मनिर्भर होने के साथ-साथ अपने राष्ट्र व समाज के लिए उपयोगी बन सके क्योंकि लोगों को यदि आत्मनिर्भर बनाने की शिक्षा न दी जाये तो सारे संसार की दौलत से भारत के एक छोटे से गांव की भी सहायता नहीं की जा सकती। शिक्षा ऐसी हो जिससे विद्यार्थियों को अपने विषय में प्रवीण बनाने के साथ जीवन जीने में भी कुशल व उत्कृष्ट बनाया जा सके।

स्कूल में केवल अच्छी पढ़ाई, अच्छे अंक, अंग्रेजी सीख लेना ही पर्याप्त नहीं है। उनमें अच्छे विचार एवं पवित्र भावनाओं का भी बीजारोपण करना चाहिए। विद्यार्थियों में मौलिक सोच एवं चिंतन की प्रक्रिया को विकसित करने की प्रेरणा भरनी चाहिए। उनके अंदर औरों के प्रति सम्मान एवं सेवा का भाव पनपे, ऐसा प्रयास भी किया जाना चाहिए। श्रेष्ठ विचारों के साथ सामान्य अंक लेकर उत्तीर्ण होने वाला छात्र किसी मेरिट छात्र से अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगा। पाठशालाओं में जीवन जीने की कला, जीवन प्रबंधन, समय प्रबंधन आदि जीवनोपयोगी पाठ्यक्रमों को शामिल कर उन्हें क्रियान्वित करना चाहिए और जो विद्यार्थी इस तरह के क्रियाकलापों में आगे आते हैं, उन्हें उचित पुरस्कार प्रदान करना चाहिए। इससे स्कूलों में वातावरण सुखद एवं सहज रहेगा। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में अनेक परिवर्तनों की आवश्यकता है, ऐसे परिवर्तन जो छात्रों के भविष्य का निर्माण कर सकें। उन्हे जीवन में समग्र सफलता के शिखर पर आरुढ़ कर सकें। शिक्षा ऐसी हो जिससे छात्र स्वयं में मजबूत हों और बाहरी प्रतिस्पर्द्धा में भी सफल हो सकें। शिक्षा जगत की आज की सर्वोपरि आवश्यकता है कि इसमें प्राचीन एवं नवीन शिक्षा पद्धति का समुचित समावेश हो।

जीवन की गरिमा को समझा सकने वाली और परिष्कृत कर सकने वाली विद्या से युक्त समग्र शिक्षा की हमें व्यवस्था करनी होगी। इसके बिना प्रगति की समस्त संभावनाएं अवरुद्ध ही पड़ी रहेंगी। पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का मत है, 'विद्या अमृत वर्षीयी है, इसका प्रयोजन पैसा कमा लेने से कहीं अधिक है। यह व्यक्तित्व को उभारती, प्रतिभा को जगाती, दृष्टिकोण को उत्कृष्टता से जोड़ती और अन्तःकरण को आत्मीयता व उदारता से लबालब भरती है।

संदर्भ सूची

शिक्षा एवं दीक्षा -पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
अखण्ड ज्योति, अगस्त 2008, सितम्बर-दिसम्बर 2010
अखण्ड ज्योति, मार्च-अक्टूबर 2013
युग क्रान्ति, विचार क्रान्ति.... पृष्ठ
अधिल विश्व गायत्री परिवार - साहित्य

ग्रेशम के नियम का पुनर्निरीक्षण

प्रो. मनोज कुमार साहू*

लेखक का धोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित ग्रेशम के नियम का पुनर्निरीक्षण शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं मनोज कुमार साहू घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कार्पोराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

सारांश

यह एक मौद्रिक नियम है जिसे ग्रेट ब्रिटेन के अर्थशास्त्री सर टॉमस ग्रेशम ने दिया। इसके अनुसार, “बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है।” परन्तु समय के बदलने के साथ इस नियम के पुनरीक्षण की आवश्यकता महसूस हुई। जिसमें डॉ० रमेश टण्डन का मत उल्लेखनीय रहा। इनके अनुसार, ग्रेशम का नियम इस दौर में कहीं न कहीं अपना प्रभाव खोता नजर आ रहा है। लोग पुराने सिक्के को संग्रह करते हुए दूर दृष्टा हुए, इंटरनेट के युग में नये या पुराने किसी भी प्रकार के सिक्के या नोट को साथ लेकर चलने से बचने लगे। जब खुद की पसंद अच्छी मुद्रा लेने की है तो बाजार में बुरी मुद्रा की जगह अच्छी मुद्रा का ही प्रचलन बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त पुराने नोटों को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बैंकों के माध्यम से बाजार से वापस ले रहा है। तब प्रचलन में तो नये नोट ही आयेंगे। अतः ग्रेशम के नियम “बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है”, के स्थान पर “बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन में ले आती है” हो। यहाँ अच्छी मुद्रा से तात्पर्य वैसा हो जैसा ग्रेशम के नियम के व्याख्याकारों ने व्याख्या किया हो साथ में बैंकों में कम्प्यूटर के स्क्रीन पर मुद्रा के संबंध में किया गया “एक क्लिक” हो।

यह एक मौद्रिक नियम है जिसे ग्रेट ब्रिटेन के अर्थशास्त्री ने दिया। तत्कालीन महारानी एलिजाबेथ ने जब देखा कि बाजार में पुराने व धिसे सिक्के का प्रचलन अधिक हो रहा है, तब उसने अपने आर्थिक सलाहकार को इसका कारण पता लगाने को कहा। सर टॉमस ग्रेशम ने मुद्रा की उक्त प्रवृत्ति का गहन अध्ययन किया और पाया कि “बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है।” (Bad money drives good out of circulation) ग्रेशम के इसी विवेचन को अर्थशास्त्र में ‘ग्रेशम का नियम’ के नाम से जानते हैं।

व्याख्या: जब बाजार में अच्छी मुद्रा¹ तथा निकृष्ट मुद्रा² (बुरी मुद्रा) दोनों एक साथ चलन में होती हैं तब निकृष्ट मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है। प्रो० मार्शल ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि यदि बुरी मुद्रा मात्रा

* सहायक प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग, महात्मा गांधी शासकीय कला एवं विज्ञान महाविद्यालय [खरसिया] रायगढ़ (छत्तीसगढ़) भारत

में सीमित नहीं है तो वह अच्छी मुद्रा को प्रचलन से बाहर कर देगी। यदि किसी देश में समान मूल्य की दो मुद्राएँ एक साथ चलन में हों किन्तु उनकी उत्तमता में अन्तर हो तो कम उत्तमता वाली (बुरी) मुद्रा पूर्ण उत्तमता वाली (अच्छी) मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है। उन्होंने यह भी बताया कि बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा की तुलना में अधिक मात्रा में होती है।

मानवीय मनोवैज्ञानिक पर आधारित; ग्रेशम का यह नियम भी अर्थशास्त्र के अन्य नियमों की तरह मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आदतों को प्रकट करता है। जब कोई सामान्य व्यक्ति किसी वस्तु को लेता है तो वह उस वस्तु की सबसे बढ़िया इकाई छांटकर लेता है और जब वह अपने पास से कोई वस्तु देता है तो वह सबसे घटिया वस्तु देने का प्रयास करता है। इसी आधार पर जब हम किसी व्यक्ति से सिक्के या कागजी नोट लेते हैं तो हम पूर्णकाय सिक्के अथवा नये या साफ-सुधरे कागजी नोट लेना पसंद करते हैं। इसके विपरीत अपने पास से सिक्के या कागजी नोट देते हैं तो हमारा प्रयास यही रहता है कि घटिया, घिसे-पिटे सिक्के या फटे मैले-कुचैले नोट देवें। जब समाज के सभी लोग इसी मनोवैज्ञानिक नियम के अनुसार लेन-देन करते हैं तो अच्छे पूर्णकाय सिक्के एवं नये नोट बाजार से लुप्त हो जाते हैं और केवल घिसे-पिटे सिक्के या मैले-कुचैले, फटे नोट ही प्रचलन में रह जाते हैं।

परन्तु डॉ० रमेश टण्डन के मतानुसार, हम किसी वस्तु के बदले घटिया, घिसे-पिटे सिक्के या फटे मैले-कुचैले नोट देना चाहते हैं लेकिन लेने वाला तो पूर्णकाय सिक्के अथवा नये या साफ-सुधरे कागजी नोट लेना पसंद करता है। इस स्थिति में यदि हमें अपनी आवश्यकता की पूर्ति करनी है तो हमें पूर्णकाय सिक्के अथवा नये या साफ-सुधरे कागजी नोट को ही बाजार में देना पड़ेगा। ऐसे में ग्रेशम के नियम के विपरीत बाजार में “अच्छी मुद्रा बुरी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देगी।” अर्थशास्त्रियों के अनुसार ग्रेशम के नियम लागू होने के तीन कारण बताये गये हैं :

1. **मुद्रा के संग्रह की प्रवृत्ति;** मुद्रा को जमा करने के लिए लोग प्रायः पूर्णकाय सिक्के अथवा नये या साफ-सुधरे कागजी नोटों को ही एकत्रित करके रखते हैं। इस प्रकार पूर्णकाय सिक्के अथवा नये या साफ-सुधरे कागजी नोट प्रचलन से बाहर हो जाते हैं और घटिया, घिसे-पिटे सिक्के या फटे मैले-कुचैले नोट ही प्रचलन में रह जाते हैं। परन्तु डॉ० टण्डन के अनुसार, पिछले कुछ वर्षों से लोगों में पुराने सिक्कों को संग्रह करने की आदत पनपी है, इससे संग्रहकर्ता को, काफी वर्ष बीत जाने के बाद उस घिसे-पिटे सिक्के के विनिमय में बहुत अधिक अर्थिक लाभ मिलने की संभावना बनी रहती है, इसके अतिरिक्त बीते युगों के सिक्के उनके पास उपलब्ध होने की प्रसिद्धि भी उन्हें मिलती है। यहाँ यह बताना आवश्यक होगा कि जो सिक्के पुराने व घिसे-पिटे होंगे वे नये की तुलना में निश्चित रूप से पहले का बना हुआ होगा।
2. **सिक्कों को पिघलाना;** कभी-कभी सोना-चांदी जैसी सिक्के वाली धातुओं के मूल्यों में वृद्धि होने से सिक्के का बाह्य मूल्य कम और आन्तरिक मूल्य अधिक हो जाता है, अतः लोग सिक्कों को गताकर धातु के रूप में बेचते हैं तथा लाभ कमाते हैं। लोग सिक्कों को गताने में नये पूर्णकाय सिक्कों का ही प्रयोग करते हैं, क्योंकि घिसे सिक्कों को गताने से कोई लाभ नहीं होता है। इस कारण नये तथा पूर्णकाय सिक्के प्रचलन से बाहर हो जाते हैं। परन्तु डॉ० रमेश टण्डन के मतानुसार, अब सोना चांदी के सिक्के बाजार में एक निश्चित कीमत के स्वरूप में उपलब्ध नहीं है अर्थात् एक निश्चित वजन के सोने या चांदी के सिक्के पर एक निश्चित रकम अंकित किया गया सिक्का बाजार में उपलब्ध नहीं है। इसके सिक्के को भी धातु की तरह कभी कम तो कभी अधिक कीमत में खरीदा बेचा जाता है। अतः सिक्के का बाह्य मूल्य और आन्तरिक मूल्य में कोई भेद नहीं रह गया है। जिससे सिक्कों को गताकर धातु बनाने वाला कार्य ही खत्म हो गया है।
3. **विदेशी भुगतान एवं निर्यात;** विदेशी बाजारों में प्रायः देश की मुद्रा को उसके अंकित मूल्य पर स्वीकार नहीं किया जाता। उसे तो केवल आन्तरिक मूल्य या यथार्थ मूल्य पर ही स्वीकार किया जाता है। अन्य शब्दों में, देश के बाहर सिक्कों को वजन एवं उनकी शुद्धता के आधार पर ही ग्रहण किया जाता है। इस तरह नये पूर्णकाय सिक्के देश के बाजारों से लुप्त हो जाते हैं क्योंकि इनका उपयोग विदेशी भुगतानों के लिए कर दिया जाता है। इस कारण पुराने घिसे-पिटे सिक्के ही चलन में रह जाते हैं। परन्तु डॉ० टण्डन के मतानुसार, इस दौर में इंटरनेट के माध्यम से विदेशी मुद्रा में विनिमय किया जाने लगा है, बैंकों में मुद्रा हस्तान्तरण, रूपान्तरण व विनिमयीकरण की कई आधुनिक व तकनिकी विधियाँ आ गई हैं जिसके कारण क्या नये व क्या पुराने सिक्के ?

इसके अतिरिक्त पुराने नोटों को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बैंकों के माध्यम से बाजार से वापस ले रहा है। तब प्रचलन में तो नये नोट ही आयेंगे। इस प्रकार ग्रेशम का नियम इस दौर में कहीं न कहीं अपना प्रभाव खोता नजर आ रहा है। लोग पुराने सिक्के को संग्रह करते हुए दूर द्रष्टा हुए, इंटरनेट के युग में नये या पुराने किसी भी प्रकार के सिक्के या नोट को साथ लेकर चलने से बचने लगे। जब खुद की पसंद अच्छी मुद्रा लेने की है तो बाजार में अच्छी मुद्रा का प्रचलन तो अवश्य बढ़ेगा।

ग्रेशम के नियम का पुनर्निरीक्षण

इस प्रकार ग्रेशम का नियम अब संशोधन योग्य हो गया है या इसकी उपयोगिता कम हो गयी है। ग्रेशम के नियम “बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है” के स्थान पर “बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन में ले आती है” हो। यहाँ अच्छी मुद्रा से तात्पर्य वैसा हो जैसा ग्रेशम के नियम के व्याख्याकारों ने व्याख्या किया हो साथ में बैंकों में कम्प्यूटर के स्क्रीन पर मुद्रा के संबंध में किया गया “एक क्लिक” हो।

स्रोत

¹नवीन एवं पूर्णकाय सिक्के जिनमें पूर्ण शुद्धता एवं वनज सरकारी कानूनों द्वारा भी निर्धारित माप को हो उसे अच्छी मुद्रा कहा जाता है। इसी प्रकार कागजी मुद्रा के नये नोटों, जो धातु (सोना एवं चाँदी) में पूर्णतः परिवर्तनशील हो, को भी अच्छी मुद्रा कहते हैं।

²वह मुद्रा जो घिसी-पिटी हो, पुरानी हो गई हो और जिसका वनज कम हो गया हो, उसे निकृष्ट मुद्रा कहा जाता है। पत्र मुद्रामान में भी फटे-पुराने, मैले-कुचले, अपरिवर्तनीय नोट या कागजी मुद्रा निकृष्ट मुद्रा होती है।

संदर्भ

डॉ० सी०ए०स० मिश्रा, डॉ० जीवनलाल भारद्वाज एवं डॉ० आनन्द कुमार विश्वकर्मा -अर्थशास्त्र, राम प्रसाद एण्ड संस, पृष्ठ संख्या 28-29

महाविद्यालयीन छात्रों में अनुशासनहीनता, कारक व निदान

डॉ. पी.सी. घृतलहरे*

लेखक का धोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित महाविद्यालयीन छात्रों में अनुशासनहीनता, कारक व निदान शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं पी.सी. घृतलहरे धोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कार्पोराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

सारांश

देश जल्दी प्रभावित होने वाली आयु के युवकों और युवतियों के लिए कहा जाता है कि वे अपने वयस्कों का अनुसरण करते हैं। आज बड़े बुड़े भी युवा पीढ़ी के लिए अनुकरणीय उदाहरण पेश नहीं कर रहे हैं। इस तरह छात्र कुछ अनुशासनहीनता का पाठ अपने बड़े-बूढ़े से सीख लेता है। कहीं-कहीं ऐसे छात्रों ने प्रवेश लिया है जिनकी पहली पीढ़ी या ज्यादा दूसरी पीढ़ी उच्च शिक्षा के क्षेत्र में आयी है। अतः शिक्षा से सम्बन्धित संस्कारों का अभाव है। शिक्षक के पास केवल नैतिक बल होता है। जिन लोगों में शिक्षा के संस्कार नहीं हैं, वे नैतिक बल की भाषा नहीं जानते। वह तो केवल पाठ्यिक बल को जानते हैं। गुरु शिष्य के संबंध ही सही शिक्षा की आधारशिला है। पर आधार शिला स्वयं ही हिलने के कागार पर है। अतः गुरु शिष्यों के संबंधों की आधारशिला को पुनः दृढ़ता व शक्ति दिए बिना, अनुशासनहीनता का उन्मूलन करना मात्र सपना है।

कूट शब्द- छात्र अनुशासनहीनता के कारक स्वयं छात्र, अभिभावक, संकाय व प्रशासन।

छात्र असंतोष के कारणों पर प्रकाश डालते हुए श्रीमती विद्यावती मलैया ने लिखा है, “छात्र आंदोलन चाहे बेकारी के कारण हो, या पुराने या नए के आयु भेद के कारण या राजनैतिक दलबंदी के कारण हो, शहर एवं देहात के भेद एवं सुख सुविधाओं के अधिक अंतर के कारण हो, या शिक्षा व्यवस्था ठीक न हो सकने के कारण हो या व्यक्तिगत अधिकाधिक उपलब्ध कराने की दृष्टि से हो, राष्ट्र को चिंता में अवश्य डुबाए हैं।”¹ भारत में छात्र असंतोष ने जो रूप ग्रहण किया है उसके संबंध में श्री पी. एन. भट्ट का विचार है कि, “यह केवल शैक्षणिक समस्या ही नहीं है, इसका संबंध तो हमारी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा ऐतिहासिक संरचना से है। छात्र हमारे समाज के अंग हैं तथा अब समाज में आमतौर पर तीव्र असंतोष व्याप्त है तब छात्र उससे अछूते कैसे रह सकते हैं?”²

* प्राचार्य, एम. जी. शासकीय कला एवं विज्ञान महाविद्यालय [खरसिया] रायगढ़ (छत्तीसगढ़) भारत

छात्रों का व्यवहार

छात्रों के भेष में अवांछनीय और अपराधिक तत्वों ने परिसरों में प्रवेश कर लिया है। एक गंदी मछली पूरे तालाब को गंदा करती है, यह कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। अधिकतर छात्र अध्ययन के प्रति गंभीर व प्रतिबद्ध हैं परन्तु अवांछनीय तत्व उन्हें डरा धमका कर या प्रलोभन देकर अपने मूल ध्येय से विचलित कर देते हैं और उनके भीतर निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए उनका सामूहिक उपयोग करते हैं। आज समाज में अवांछनीय और असमाजिक तत्व फलते-फूलते नजर आते हैं। महाविद्यालयों में ऐसे तत्वों ने प्रवेश लिया है जो हर प्रकार का लाभ उठा रहे हैं। वे छात्र-संघ और छात्रों से संबंधित अन्य गतिविधियों का खुले आम दुरुस्थयोग करते हैं। महाविद्यालय व छात्रावासों में उन्हें प्रवेश, अन्य छात्रों की तुलना में जल्दी व सुगमता से मिल जाता है। इन तत्वों को राजनीति में भी प्रवेश अपनी दादागिरी के बल पर आसानी से मिल जाता है। एक बार इनको राजनीतिक प्रश्न य मिल जाता है तो महाविद्यालयों का प्रशासन उनके नियंत्रण में आ जाता है। अन्य छात्र दादागिरी के लाभदायक परिणाम देखकर, इन तत्वों का अनुशरण करने लगते हैं।

छात्रों में गैर जिम्मेदाराना और अशिष्ट व्यवहार पैदा करने के लिए बहुत कुछ भारतीय मनोवृत्ति भी उत्तरदायी है। यहाँ की पुरानी कहावत है, “सीधी ऊँगली से धी नहीं निकलती।” यह उक्ति एक तरह से हमारे समाज का गुरुमंत्र हो गई है। जो अकड़कर बात करता है हम उसकी सुनवायी जल्दी करते हैं। किसी की शरारत करने की क्षमता जितनी अधिक होती है, समाज या प्रशासन उतनी जल्दी उसकी सुनता है। यही महाविद्यालयों में भी होता है। जिन छात्रों का ‘न्यूसेन्स वेल्यू’ ज्यादा है, उनका कार्य चाहे प्राचार्य हो, चाहे प्राध्यापक हो, चाहे कार्यालय हो, सब बड़े तपाक से करते हैं। इस तरह हम स्वयं परिसर में अनुशासनहीनता और अभद्र व्यवहार को लाभदायक बनाकर अनुकरणीय बना रहे हैं।

अभिभावकों की उदासीनता

अधिकतर माता-पिता और अभिभावकों का व्यवहार शुतुरमुर्ग की प्रवृत्ति की तरह हो गया है। कहा जाता है कि जब तूफान आता है, शुतुरमुर्ग अपना मुँह छुपा लेता है और इस तरह चारों ओर उठ रहे बवंडर का पता नहीं चलता, चाहे इसके लिए उसे प्राणों से हाथ ही क्यों न धोना पड़े। माता-पिता और अभिभावक भी उनके बच्चों की अवांछनीय गतिविधियों से, जो विध्वंसकारी बवंडर उठा रहा है, जानबूझकर मुँह मोड़ लेते हैं। शिक्षित और शिष्ट घरानों से बच्चों को जो शिष्टाचार, नैतिकता, अनुशासन और अन्य विधाओं में अनुकरणीय आदेशों के संस्कार प्राप्त हो रहे थे, आज वे वांछनीय और आवश्यक मात्रा में प्राप्त नहीं हो रहे हैं। जीवन के इस संघर्षमय सफर में “घर” सबसे पहला और शायद सबसे महत्वपूर्ण “विद्यालय” होता था। आज इस घर रूपी विद्यालय के स्थान पर शून्य (Vacume) निर्मित हो गया है। इसका स्थान किसी सार्थक, सशक्त और प्रभावशाली वैकल्पिक व्यवस्था ने नहीं लिया, नतीजा सबके सामने है।

फ्रायड के अनुसार, बाल्यकाल के अनुभव बच्चों के भावी विकास को प्रभावित करते हैं। आजकल माता-पिता बच्चों के प्रति अपने कर्तव्य का ठीक प्रकार से निर्वाह नहीं कर पाते। अपने व्यवसायिक कार्यों के कारण वे बच्चों के विकास पर ध्यान नहीं दे पाते। ऐसे में वे उचित मार्गदर्शन से वंचित रह जाते हैं व कुसंगति में पड़ने के पूरे आसार निर्मित हो जाते हैं। अपनी अशिक्षा व अज्ञानता के कारण अनेक माता-पिता अपने बच्चों को न तो उचित शिक्षा दे पाते हैं और न हि वे उनको सही मार्गदर्शन कर पाते हैं। अनेक अभिभावक स्वयं कुसमायोजित होते हैं व कलहपूर्ण पारिवारिक वातावरण में पलने वाले बच्चे प्रायः कुसमायोजित हो जाते हैं। इस प्रकार समस्यात्मक अभिभावक अपने बच्चों को भी समस्यात्मक बना देते हैं। इन तनावों के कारण बालक अधिगम विमुख हो जाते हैं व उनका रोष अनुशासनहीनता व्यवहारों के माध्यम से विद्यालय व परिवार दोनों जगह व्यक्त होता है।

संकाय व प्रशासन का उत्तरदायित्व

शिक्षक वर्ग अपने बचाव में जो कुछ भी कहे, पर छात्रों में व्याप्त अनुशासनहीनता के लिए कम या अधिक उत्तरदायी होने के आरोप से बरी नहीं हो सकता। चूँकि समाज के वर्गों और क्षेत्रों में गिरावट आई है, शिक्षक वर्ग भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहा है। शिक्षकों की उपाधियों में वृद्धि हुई है पर विद्वता में गिरावट आई है। भौतिक स्तर और माली हालत में सुधार हुआ है पर नैतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है। ऊँचे पदों पर बैठने के अवसर बढ़े हैं पर उस पद की गरिमा बनाए रखने की इच्छा क्षीण हुई है। कोठारी आयोग ने लगभग तीस वर्ष पूर्व जो बात शिक्षक वर्ग की शिक्षण में अरुचि के लिए कही थी, वह आज के संदर्भ में ही ज्यादा लागू है।

“उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में आजकल पूरे शिक्षण वर्ष में जो स्थिति रहती है वह आलस्य और अति श्रम के बीच झुलती है। पूरे वर्ष तो आलस्य का दौर रहता है और परीक्षा के समय दबाव बढ़ जाता है। कुछ अपेक्षाकृत कमजोर कॉलेजों में और कुछ विश्वविद्यालयों में भी अधिकतर अध्यापक यात्रिक ढंग से और उदासीन रहकर अपना अध्यापन कार्य करते हैं। जो विषय वे पढ़ाते हैं, वे अक्सर ऐसे नहीं होते जिनसे उनका बौद्धिक लगाव हो। आमतौर से यह भी नहीं होता कि जो पाठ्यक्रम निर्धारित होता है और उन्हें पढ़ना पढ़ता है, उसे तैयार करने में उनका कुछ हाथ रहता हो; इसके अतिरिक्त वे पढ़ाने की पद्धतियों का भी प्रयोग नहीं करते। इसके कुछ प्रशंसनीय अपवाद भले ही हो, पर ज्ञान अथवा नये सत्यों के अन्वेषण के प्रति कोई विशेष उत्साह नहीं होता क्योंकि अनुसंधान को उनके कार्य का अनिवार्य अंग नहीं माना जाता और जो अनुसंधान होता भी है वह प्रायः ऐसा नहीं होता कि मन में कुछ प्रत्यय लगाये।”¹³

जहाँ कोठारी आयोग ने चित्रण में शिक्षक वर्ग पर जो लांघन लगाया है वह आयोग के इस उद्गार से ऐसा प्रतीत होता है जैसे सुरंग के बाद प्रकाश प्रतीत होता है, “हो सकता है यह चित्र अतिशयोक्ति पूर्ण लगे, पर है नहीं। अगर इस चित्र में कोई गलती है तो यही हो सकती है कि बात को दबा घटा कर प्रस्तुत किया गया है। यह सच है कि इस तिमिराच्छन्न चित्र में अपवाद स्वरूप कुछ ज्योति बिन्दु भी हैं जिन्हें साभार तैयार किया जाना चाहिए। परन्तु कुल मिलाकर देखें तो शैक्षिक उत्कर्ष पर आदर्श थोड़े से अध्यापकों और छात्रों तक ही सीमित है और उत्साह भंजक परिस्थितियों के बावजूद उन्हें ही इस ज्योति को जगाए रखना है।”¹⁴

शिक्षक वर्ग में व्याप्त अपने कार्यों के प्रति अरुचि और उदासीनता ने छात्रानुशासन को ठेस तो पहुँचायी है ही, पर एक अन्य बात ने तो स्थिति को और गंभीर बना दिया है। इस संस्था अथवा समुदाय में अवांछनीय तत्व हमेशा रहे हैं, रहते हैं और रहेंगे। अंग्रेजी में इन अवांछनीय तत्वों को “ब्लैक शीप” (black sheep) अर्थात् ‘काली भेड़’ की संज्ञा दी गई है। शिक्षक वर्ग में पहले भी “ब्लैक शीप” होते थे पर उनकी संख्या कम थी। अतः उनमें हानि पहुँचाने की क्षमता प्रायः नगण्य होती थी। परन्तु जैसा समाज के अन्य विधाओं में हुआ है, शिक्षक वर्ग में भी “ब्लैक शीप” की संख्या बढ़ी है; फलस्वरूप शिक्षा जगत की पूरी पद्धति को ही हानि पहुँचाने की क्षमता बढ़ी है। महाविद्यालयों में प्रवेश से लेकर परीक्षाफल तैयार करने तक, इन अवांछनीय तत्वों का किसी न किसी कु-प्रथा में हाथ होता है। परिणामस्वरूप परीक्षा में नकल कराना, उत्तरपुस्तिकाओं में अंक बढ़ाना आदि कार्य को प्रोत्साहन मिला है क्योंकि यह कहावत भी है कि “चौकीदार की कौन चौकीदारी करेगा” (who will guard the guards)। शिक्षक, शिक्षा प्रणाली जैसी अनमोल धरोहर के रखवाले हैं। यदि रखवाले की विश्वसनीयता ही संदिग्ध हो जाए, तो पूरी प्रणाली पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। यही कारण है कि विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं ने विश्वसनीयता खो दी है और इसमें अवांछनीय तत्वों का बहुत बड़ा हाथ है। इस कारण से परीक्षा में नकल आदि की घटनाएँ बहुत बढ़ गई हैं। एक भ्रष्ट और अनुशासनहीन शिक्षक, छात्रों में अनुशासन रखने में कभी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि “खुद मियां फजीहत, दूसरों को नसीहत” वाली बात चरितार्थ होती है। छात्रों में अनुशासनहीनता के और भी कारण हैं, जैसे :

1. अध्यापकों का कक्षा में देर से आना अथवा बिल्कुल न आना।
2. कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या औसतन विद्यार्थियों से अधिक होना, परिणामस्वरूप उनके बैठने की उचित व्यवस्था न होना।
3. कक्षा में पढ़ाते समय नवीन विधियों का उपयोग न किया जाना।
4. छात्रों का निष्क्रिय रहना, दृश्य श्रव्य सामग्री का अभाव।

5. बढ़ती हुई फीस।
6. नौकरियों का नहीं मिलना।
7. कॉलेजों में प्रवेश के समय तथा अतिथि अध्यापकों की नियुक्ति के समय ईमानदारी न रखना।
8. प्रश्नपत्रों का समय से पहले लीक होना।
9. एक ही कक्षा में बैठकर नकल करने वालों छात्रों के साथ दोहरी नीति अपनाना।
10. उत्तर पुस्तिकाएँ जांचते समय पक्षपात पूर्ण व्यवहार अथवा रूपयों के लालच में अयोग्य छात्रों के अंक बढ़ाना।
11. कॉलेज का प्रशासन सुचारू रूप से न चलना।
12. राजनीति का अकारण ही कॉलेज में प्रवेश।
13. किसी जाति विशेष को नीचा दिखाने के लिए नारेबाजी करना।
14. दंडनीय छात्रों को राजनैतिक संरक्षण मिलना।

छात्र असंतोष को दूर करने का उपाय

यदि उपरोक्त स्थितियों का सामना सही ढंग से किया जाए, या कहें प्रशासन वर्ग चुस्त एवं दुरुस्त रहे, तत्काल निर्णय ले एवं निष्पक्षता पूर्वक कार्य करे, तो काफी हद तक अनुशासन बनाए रखने में सफलता मिल सकती है।

विद्यार्थियों में व्याप्त असंतोष को दूर करने व शैक्षिक प्रांगणों में शांति की स्थापना के लिए समय समय पर अनेक विभागों, नेताओं व समितियों ने अपने सुझाव दिए हैं। छात्रों में अनुशासनहीनता की समस्या पर विचार करने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने दीवान आनंद कुमार की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। इस समिति के कुछ महत्वपूर्ण सुझाव हैं :

1. किसी महाविद्यालय में छात्रों की संख्या 1000 से अधिक न हो।
2. महाविद्यालय में प्रवेश की न्यूनतम आयु 16-17 वर्ष हो।
3. प्रवेश योग्यता के आधार पर हो।
4. शिक्षकों का वेतन प्रथम श्रेणी के सरकारी अधिकारियों के समान हो।
5. योग्य व अच्छे चरित्र वाले व्यक्तियों का शिक्षक के रूप में चयन हो।
6. शिक्षकों को राजनीति से अलग रखें।
7. विद्यार्थियों की शिकायत पर तुरंत ध्यान देना।
8. व्यवसायिक व नैतिक मार्गदर्शन की व्यवस्था करना।
9. पाठ्य सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था करना आदि।

शिक्षा आयोग ने भी छात्र असंतोष की समस्या पर विचार किया। उनके महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार हैं :

1. नए विद्यार्थियों के लिए ओरिएन्टेशन कार्यक्रमों को शिक्षा सत्र के प्रारम्भ में आयोजित करना।
2. चिकित्सा सुविधा प्रदान करने के लिए उपयुक्त स्वास्थ्य सेवाओं का संगठन।
3. छात्रावासों की संख्या में वृद्धि।
4. विद्यार्थियों को व्यवसायिक निर्देशन देने के लिए परामर्श सेवाओं का संगठन।
5. विविध प्रकार की पाठ्य सहगामी क्रियाओं का आयोजन।
6. स्वाध्याय केन्द्रों की स्थापना।
7. छात्र संघों की उचित व्यवस्था।
8. शिक्षा के स्तर को सुधारना।
9. अनुशासनहीनता की घटनाएँ रोकने के लिए उचित प्रशासनिक व्यवस्था करना।

सन् 1966 में छात्रों में अनुशासनहीनता की समस्याओं पर विचार विमर्श करने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने कुलपतियों का सम्मेलन बुलाया। उनके निम्न सुझाव थे :

1. छात्रों की डीन की नियुक्ति।
2. छात्रों को वित्तीय सुविधाएँ देना।
3. शिक्षा अधिकारियों की मांग पर शिक्षा संस्थाओं में पुलिस प्रवेश।

4. राजनीतिक दलों द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए छात्रों के प्रयोग पर रोक।
5. पुस्तकालय व वाचनालय सुविधाओं में सुधार।
6. शिक्षक व विद्यार्थियों के बीच निकट सम्पर्क की स्थापना।
7. विद्यार्थियों की कठिनाइयों पर विचार करने के लिए उचित प्रशासनिक व्यवस्था करना।
8. विश्वविद्यालयों में नियुक्ति, प्रवेश, चुनाव, परीक्षा के क्षेत्र में पूरी ईमानदारी बरतना।
9. चिकित्सा व मनोरंजन की सुविधाओं में सुधार करना।

उपरोक्त समितियों के अतिरिक्त छात्रों के प्रतिनिधियों, सांसदों, विद्वानों ने समय समय पर विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता कम करने के उपायों पर विचार किया। उपर्युक्त सुझावों के बाद भी अनुशासनहीनता कम नहीं हुई। अतः हम निम्न निर्णय ले सकते हैं :

1. शैक्षिक व प्रशासनिक कार्यों में विद्यार्थियों का प्रभावी संभागीत्व सुनिश्चित करना।
2. शैक्षिक परिसर में अनुशासनहीनता व्यवहार करने वाले विद्यार्थियों को दण्ड देने के लिए अनुशासन समितियों का गठन।
3. छात्र-छात्राओं एवं शिक्षक-कर्मचारियों के लिए आचार संहिता बनाना एवं दण्ड की व्यवस्था करना।
4. कक्षा में महत्वपूर्ण प्रश्न बताने व पक्षपात पूर्ण व्यवहार पर रोक लगाना।
5. व्याख्यान के बजाय अन्य वैयक्तिकृत शिक्षण विधियों का प्रयोग करना।
6. न्यायपालिका को शिक्षा अधिकारियों, सरकार व समुदाय के व्यवहार की समीक्षा करने का अधिकार मिलना चाहिए।
7. हड्डतालों, घेराव, हिंसात्मक कार्यों पर रोक लगाने के लिए कड़े कानूनी उपाय किए जाने चाहिए।
8. राजनीतिक हितों के लिए आन्दोलनों के इस्तेमाल पर रोक लगानी चाहिए।
9. उचित मांगों के शीघ्र निराकरण की व्यवस्था होना चाहिए।
10. अनुचित मांगें मनवाने के लिए अशांतिपूर्ण तरीके अपनाने वालों को दंडित करना चाहिए एवं बेतुकी, बेकार व घटिया मांगों का सख्त विरोध होना चाहिए।
11. छात्र वर्ग के बीच एक वैचारिक समझ विकसित करनी चाहिए एवं शिक्षा की व्यवस्था में छात्रों को भागीदार बनाने का आयास होना चाहिए।

संदर्भ

¹पांडेय, रामशक्त एवं मिश्र, करुणाशंकर - भारतीय शिक्षा की ज्वलंत समस्याएँ, 1990 पृष्ठ संख्या 355-356

²पांडेय, रामशक्त एवं मिश्र, करुणाशंकर - भारतीय शिक्षा की ज्वलंत समस्याएँ, 1990 पृष्ठ संख्या 356

³शिक्षा आयोग की रिपोर्ट 1964-66, शिक्षा और राष्ट्रीय विकास शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार 1968, पृष्ठ संख्या 314

⁴शिक्षा आयोग की रिपोर्ट 1964-66, शिक्षा और राष्ट्रीय विकास शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार 1968, पृष्ठ संख्या 315

विचारधारा के अर्थ व अंत से जुड़े विवाद : एक विश्लेषण

सुबोध प्रसाद रजक*

लेखक का धोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित विचारधारा के अर्थ व अंत से जुड़े विवाद : एक विश्लेषण शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं सुबोध प्रसाद रजक धोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

”यह दुनिया समानांतर होने की संकल्पना, तथाकथित लोकतंत्र और पूँजीवादी-बाजारवाद का वैश्विक लहर एवं राजनीतिक दलों का आधार ‘विचारधारा’ (*Ideology*)’ के बजाय ‘विचारों का समुच्चय’ (*Group of Ideas*) के होने की बातों ने विचारधारा के ‘अर्थ’ को कमज़ोर एवं इसके ‘अंत’ की बात को मजबूत किया है, लेकिन पूँजीवाद व आधुनिकता के उपलब्धियों पर किये जा रहे सवाल, आर्थिक मदियों का आकस्मिक आगमन, विकासशील देशों में वैकल्पिक विकास प्रतिमान विकसित करने की बेचैनी, आतंकवाद का वैचारिक आवरण व राजनीतिक आयाम, सामाजशास्त्रियों में समाज के नये समस्याओं के समाधान हेतु नये सिद्धांतों की तलाश राजनीतिक दलों की विशिष्ट पहचान एवं स्पष्ट कार्यप्रणाली प्रतिविवित करने हेतु पुनः विचारधारा की परिधि में प्रवेश करने की उक्तंठा ने विचारधारा के ‘अर्थ’ को मजबूत एवं इसके ‘अंत’ की बातों को कमज़ोर किया है।”

भूमिका

सबसे पहले फ्रांसीसी विचारक देस्तू द ट्रेसी (1754-1836) ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में ‘विचारधारा’ शब्द का प्रयोग ‘विचारों के विज्ञान’ के अर्थ में किया था।

ऐसा माना जाता है कि हरेक राजनीतिक दल किसी न किसी राजनीतिक विचारधारा पर आधारित होती है और वह राजनीतिक दल उस विचारधारा को प्रतिविवित करती है और सत्ता मिलने के पश्चात् उस विचारधारा से जुड़े मान्यताओं को नीति, निर्णय व क्रियान्वयन के माध्यम से मूर्त रूप प्रदान करती है। विचारधारा को मोटे रूप में इन शब्दों में परिभाषित किया जाता है कि यह विचारों का ऐसा समुच्चय है जो किसी प्रचलित स्थापित शासन-व्यवस्था को सही ठहराते हुए, उसे, समर्थन देते हुए वैधता प्रदान करती है या फिर स्थापित व्यवस्था के कमज़ोरियों एवं नाकामियों को सामने रखते हुए किसी वैकल्पिक व्यवस्था के स्थापना हेतु आमूल-चूल परिवर्तन की बात करती है। विचारधारा के उपर्युक्त परिभाषा के बावजूद विचारधारा को लेकर विद्वानों में व्यापक मतभेद है, जहाँ एक ओर इतावली समाज वैज्ञानिक विल्फ्रेडो पैरेटो (1848-1923) ने तर्क

* शोध छात्र, राजनीतिक विज्ञान विभाग [सामाजिक विज्ञान संकाय] काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत। E-mail : subodhrajak11@gmail.com

दिया कि सब विचारधारा अपनी मनचाही सामाजिक नीतियों को बढ़ावा देने के लिए मनुष्यों की भावनाओं से फ़ायदा उठाती है।

कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने अपनी दो प्रसिद्ध कृतियों 'Jerman Ideology' (1848) और 'A Contribution to the critique of political Economy' (1889) में विचारधारा को बुर्जुवा (शोषक) वर्ग के स्वार्थ सिद्धि का साधन के रूप में परिभाषित करते हुए मिथ्या चेतना (False consciousness) कहा है। विचारधारा जो कि अधिरचना (Super Structure) का ही एक तत्व है अनिवार्य रूप से आधार (basic Structure) के स्वरूप को ही प्रतिबिंबित करती है तथा उससे नियंत्रित व निर्देशित होती है। मार्क्स के शब्दों में मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है। मार्क्स (1818-1883) और एंगेल्स (1820-95) के अनुसार विचारधारा प्रभुत्वशाली वर्ग के निहित स्वार्थों की रक्षा का साधन है। विचारधारा प्रभुत्वशाली वर्ग का सुरक्षा कवच है उसके वैधता का साधन है। ब्लादिमीर लेनिन (1870-1924) ने अपनी कृति 'What is to be done?' (1902) में विचारधारा को निस्संदेह वर्ग-हित की अभिव्यक्ति मानते हुए इस बात का समर्थन किया है कि चूँकि समाजवादी दौर में वर्ग संघर्ष लंबे समय तक चलता रहेगा शोषक वर्ग के शोषणकारी नीतियों के अवशेष बचे रहेंगे और उनसे लड़ने व उन समस्त अवशेषों को समाप्त करने के लिए सर्वहारा वर्ग को विचारधारा जिसे उन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद कहा है कि आवश्यकता बनी रहेगी। केवल साम्यवाद की अवस्था ही राज्य-विहीन, वर्ग-विहीन, विचारधारा-विहीन होगी। जर्मन समाजवैज्ञानिक कार्ल मैन्हाइम (1893-1947) ने अपनी कृति 'Ideology and Utopia' (1929) में मार्क्स का समर्थन करते हुए 'विचारधारा' को मिथ्या चेतना कहा है जिसका ध्येय प्रचलित स्थापित व्यवस्था को बनाए रखना है जबकि कल्पना लोक परिवर्तन की शक्तियों पर बल देते हुए प्रचलित व्यवस्था का विरोध व क्रांति की प्रेरणा देती है। हंगेरियाई मार्क्सवादी विचारक जार्ज ल्यूकाच (1885-1971) का मानना था कि हरेक विचारधारा हरेक वर्ग के विचारों, मूल्यों विश्वासों व उद्देश्यों की अभिव्यक्ति होती है। स्वयं मार्क्सवाद सर्वहारा की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति है।

आस्ट्रियाई दार्शनिक कार्ल पॉपर (1902-94) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'The open society and its enemies' (1945) में इस तथ्य को विश्लेषित करने का प्रयास किया है कि विचारधारा केवल सर्वाधिकार समाज की मुख्य साधन होती है जिससे वह समस्त जनता को एक ही साँचे में ढालने का प्रयास करती है। मुक्त समाज को किसी विचारधारा की आवश्यकता नहीं पड़ती है। पश्चिमी उदारवादी लोकतंत्रीय समाज जो मुक्त समाज को प्रतिबिंबित करती है, क्योंकि इस समाज के सदस्यों को प्रचलित संस्थाओं व शक्ति की संरचनाओं की आलोचना करने की आजादी होती है। जर्मन यहूदी महिला, दार्शनिक हन्ना आरेट (1906-75) ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'The origins of totalitarianism' (1951) में इस बात की पुष्टि की है कि सर्वाधिकारवादी शासन संचालन अपना प्रभुत्व स्थापित करने के दो आधार विचारधारा (Ideology) एवं आतंक (Terror) हैं। विद्वानों के बीच विचारधारा के अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्य को लेकर काफी मतभेद है जिसके कारण आज तक विचारधारा के अर्थ व उद्देश्य को लेकर स्पष्टता का अभाव है।

विचारधारा के अंत से जुड़े विवाद

औद्योगिक विकास के मार्ग प्रशस्त करने में जहाँ उदारवादी विचारधारा का योगदान रहा वहीं औद्योगिक विकास व नीति के परिणामस्वरूप फैली असमानता, असंतोष व शोषण ने एक वैकल्पिक व्यवस्था व विकास प्रणाली के विकास हेतु समाजवादी विचारधारा का योगदान रहा है। लेकिन औद्योगिक विकास की उन्नत अवस्था में कमोवेश हरेक राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था में एक ही प्रकार के विकास प्रतिमान अपनाये जाने के कारण बौद्धिक जगत में 'विचारधारा के अंत' को लेकर विमर्श शुरू हो गया और इस विमर्श में संभवतः सबसे पहले भाग लेने वाले विद्वान अमरीकी समाज वैज्ञानिक डैनियल बैल थे। जिन्होंने अपनी चर्चित कृति 'The End of Ideology' (1960) में यह तर्क दिया कि सारे उत्तर-औद्योगिक समाज (Post-Industrial) एक जैसे विकास की ओर अग्रसर हो रही है, चाहे वे किसी भी विचारधारा का अनुसरण करते हों। उत्तर-औद्योगिक समाज में विकास की बलि वेदी पर विचारधाराएं कुर्बान होती होती जा रही हैं। अमरीकी अर्थशास्त्रवेत्ता जे० के० गैल्ब्रेथ ने अपनी

पुस्तक ‘*The New Industrial state*’ (1967) में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि औद्योगीकृत समाज एक जैसे विकास की ओर अग्रसर होते हैं और आज उनमें व्यावसायिक वर्गों (*Professional Classes*) और तकनीक विदों (*Technocrats*) का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है जिसके कारण औद्योगीकृत समाज में केन्द्रीकरण व अधिकारितंत्रीकरण के लक्षण उभर रहे हैं। अमरीकी राजनीति समाज वैज्ञानिक सीमोर लिफ्टेट ने अपनी महत्वपूर्ण कृति ‘*Political man*’ (1960) में निष्कर्ष के तौर पर इस तथ्य को उजागर करने का प्रयास किया है कि आज किस प्रकार वामपंथी (*The Left*) और दक्षिणपंथी (*The Right*) एक दूसरे के निकट आ रहे हैं।

जिन इतिहासकारों ने इतिहास को विचारधाराओं के संघर्ष के रूप में समझने व अध्ययन करने का प्रयास किया उनके बौद्धिक विमर्श के केन्द्र में एक नये मसले ने जन्म लिया और जिसे ‘इतिहास के अंत’ संबंधी विवाद के रूप में समझा जाता है। 1980 के दशक में जब सोवियत संघ की अपनी संघीय इकाइयों पर पकड़ ढीली होती गई। पूर्वी यूरोप की समाजवादी व्यवस्थाएं एक-एक करके छिन्न-भिन्न होने लगी, साम्यवादी विचारधारा संकट में विरती गई तब ‘विचारधारा के अंत’ की परिकल्पना को एक नया नाम दिया गया- ‘इतिहास का अंत’ (*End of History*) यह शब्द प्रसिद्ध अमरीकी राजनीति-विश्लेषक फ्रांसिस फुकुयामा की देन है, फुकुयामा ने ‘*The National Interest*’ पत्रिका में प्रकाशित लेख ‘*The End of History (1989)*’ के अन्तर्गत यह तर्क दिया कि उदार लोकतंत्र में कोई बुनियादी अंतर्विरोध नहीं पाए जाते और वह मानव-मन की सबसे गहरी आकांक्षाएं पूरी करने में समर्थ है। बाद के वर्षों में फुकुयामा ने अपने विचारों को विस्तृत व्याख्या अपनी चर्चित कृति ‘*The End of History and the last man*’ (1992) में की। एक शासन प्रणाली के रूप में साम्यवाद की असफलता व सोवियत संघ के विखराव की घटनाओं ने फुकुयामा के बौद्धिक सीमा ने उसे इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया कि एक विचारधारा व शासन प्रणाली के रूप में साम्यवाद अप्रासंगिक व अस्तित्वहीन होता जा रहा है और समूचे विश्व व्यवस्था के विकास के लिए उदार लोकतंत्र व पूँजीवाद का संयोग किसी भी वैकल्पिक राजनीतिक एवं आर्थिक प्रणाली से वरेण्य है।

निष्कर्ष

विचारधारा के अर्थ व अंत से जुड़े इन तमाम विवादों का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात जब हम ‘विचारधारा’ की संकल्पना को अन्तरविषयी उपागम के आलोक में समझने का प्रयास करते हैं तो यह पाते हैं कि विचारधारा एक ही साथ समाजशास्त्र के कई विधाओं से जुड़ी हुई संकल्पना है जिसके आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक नैतिक दार्शनिक आदि पक्ष हैं। विचारधारा विचारों, मूल्यों विश्वासों, मान्यताओं आदि का समुच्चय है जो समय व समाज सापेक्ष होता है। विचारधारा के माध्यम से न सिर्फ किसी समाज के वर्तमान दशा का बल्कि उसके भावी दिशा को भी समझा जा सकता है। विचारधारा और समाज में अन्योन्याश्रित संबंध है जो एक-दूसरे को प्रभावित करती है। विचारधारा एक गतिशील समाजशास्त्रीय संकल्पना है जो समाज के गतिशील व परिवर्तनशील चरित्र के साथ-साथ चलती है। संपूर्ण समाज का ग्राह्य मूल्यों, विश्वासों, विचारों को प्रतिबिंबित करने वाली विचारधारा सकारात्मक रूप में समाज को प्रभावित करते हुए हमें शांतिपूर्ण तरीके से विकास की ओर ले जाती है। सर्वहित पर केन्द्रित लोकतंत्रीय विचारधारा समाज व्यवस्था के लिए उपयोगी होती है। जबकि निजी हित पर केन्द्रित अभिजाततंत्रीय व निरंकुशतंत्रीय विचारधारा असंतोष, अशांति व क्रांति को आमंत्रित करती है। हरेक सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था में अनिवार्य रूप से विचारधारा विद्यमान रहती है जो उस समाज के बुद्धिजीवियों के विमर्शों, कृतियों एवं राजनीतिक आर्थिक व सामाजिक आचरण में अभिव्यक्त होती रहती है। हर व्यक्ति विशेष की विशिष्ट विचारधारा भी उसके निजी व सार्वजनिक क्रियाकलापों के साथ-साथ उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में भी परिलक्षित होता रहता है।

हरेक समाज के मनुष्यों में अपने विकास व अपने समाज के विकास के लिए अपने-अपने दृष्टिकोण होते हैं जो उस समाज के संस्कृति, परंपरा, आर्थिक-राजनीतिक व भौगोलिक प्रकृति पर निर्भर करती है। एक ही राजनीतिक-भौगोलिक परिधि के अन्तर्गत विभिन्न समाजों में विविध विचारधाराएं विद्यमान हो सकती हैं। जिन विद्वानों ने संपूर्ण विश्व को मोटे तौर पर मुख्यता दो विचारधाराओं ‘उदारवादी पूँजीवाद’ और ‘साम्यवाद’ के रूप में समझने का प्रयास किया और सोवियत संघ के विघटन के पश्चात यह भविष्यवाणी कर बैठे कि विचारधारा का अंत या फिर इतिहास का अंत हो गया तो उन्हें इस बिन्दु पर

बारीक नज़र डालनी चाहिए की आज भी कतिपय विकासशील देशों, अल्पविकसित एवं इस्लामिक देशों के शासन प्रणाली व उसके विकास प्रतिमान पूँजीवादी उदारवादी लोकतंत्र से भिन्न है और बहुतों में साम्यवादी शासन प्रणाली व विकास प्रतिमान का प्रभाव है। क्यूंकि, वियतनाम, चीन, ग्रीस के राजनीतिक सामाजिक व्यवस्था में साम्यवादी विचारधारा के प्रभाव को देखा जा सकता है। उत्तर आधुनिकतावादी विद्वानों ने आधुनिक युग के तथाकथित उपलब्धियों एवं सार्वभौमिक माने जाने वाले ज्ञान संपदा पर जो प्रहार किया है उससे विचारधारा को कठघरे में खड़ा करने वाले विद्वान् स्वयं कठघरे में आ गए हैं। वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के कारण वैश्विक स्तर पर आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक व सांस्कृतिक हलचल आई है। इसके परिणामस्वरूप जो असमानता असंतोष व अशांति उत्पन्न हो रही है वह 'विचारधारा के अंत' को नहीं बल्कि किसी नई विचारधारा के आवश्यकता व आगमन का संकेत करती है। बहुसंस्कृतिवाद के समर्थक विद्वानों ने जिस प्रकार वैश्वीकरण के पैरोकारों के समक्ष देशज, नृजातीय पहचान, स्थानीय सांस्कृतिक विशेषता, पारंपरिक पहचान, ऐतिहासिक धरोहरों आदि से जुड़े सवाल खड़े किये हैं। वे अपने-आप में किसी नए विचार, मूल्य, लक्ष्य, विकल्प व वैश्वीकरण के किसी नये संस्करण का संकेत करती हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विचारधारा एक समाज व समय सापेक्ष सामाजिक-राजनीतिक संकल्पना है जो हमेशा समाजशास्त्र के शब्दकोश में अर्थपूर्ण ढंग से विद्यमान रहेगी जिसका न तो कभी 'अंत' होगा और न ही वह कभी 'अर्थहीन' होगी।

सन्दर्भ सूची

- पटनायक, किशन (2015) -विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 110002
 वेपर, सी0 एल0 -राजदर्शन का स्वाध्ययन, किताब महल 22-A सरोजिनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद
 वर्मा, एस0पी0 (2004) -आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा0 लि0, नई दिल्ली-110014
 BURNS, EMILE (2008); *What is Marxism?*, People's Publishing House (p) Ltd, New Delhi-110055
 TROTSKY, LEON(2012); *In Defence of Marxism*, AAKAR Books Delhi-110091
 राजकिशोर (2012) -(संपादक) भारत का राजनीतिक संकट, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
 किमलिका, विल (2013) -समकालीन राजनीति-दर्शन : एक परिचय, पियर्सन पब्लिकेशन, नई दिल्ली-110017
 गेना, सी0 बी0 (2005) -तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थायें, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा0 लि0, नई दिल्ली-110002
 पंत, पुष्पेश (2009) -पर्यावरण प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली-110003
 गावा, डॉ0 ओ0 पी0 (2005) -राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा- 201301
 गावा, डॉ0 ओ0 पी0 (2014) -पाश्चात्य राजनीति-विचारक, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा-201301

"राष्ट्रीय एकता के लिये घातक साम्प्रदायिकता एक अध्ययन"

प्रदीप कुमार भिमटे*

लेखक का धोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित "राष्ट्रीय एकता के लिये घातक साम्प्रदायिकता एक अध्ययन" शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं प्रदीप कुमार भिमटे धोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

देश में अनेक धर्मों, मूलवंशों, विभिन्न भाषाओं, विभिन्न प्रकार की मान्यताओं के मानने वाले लोग रहते हैं जिनकी अपनी संस्कृति रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि की बहुलता पायी जाती है। देश के विविधता के बावजूद एकता एवं अखण्डता बनी रहे इसलिए संविधान निर्माताओं ने प्रजातांत्रिक मूल्यों को बनाए रखने के लिए समानता, स्वतंत्रता प्रभुत्व तथा सामाजिक न्याय की स्थापना की है। जिससे देश की स्वतंत्रता अक्षुण्य बनी रहे। भारत में प्रत्येक व्यक्ति संविधान के प्रति निष्ठा अभिव्यक्ति करता है सत्ता की राजनीति के लिए जाति एवं धर्मों का ध्रुवीकरण न हो तथा प्रत्येक नागरिकों को अपनी मातृभूमि से लगाव होना चाहिए साथ ही मातृभूमि की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए हमारे संविधान में प्रत्येक नागरिकों को अपने परसंद के धर्मों को मानने की स्वतंत्रता है तथा किसी भी धार्मिक कट्टरतावश लोग अपने धर्म को श्रेष्ठ मानकर दूसरे धर्म से घृणा करने लगते हैं जिससे धार्मिक एवं सामाजिक सन्तुलन बिगड़ने लगता है। हमें साम्प्रदायिक सद्भाव, देश की एकता अखण्डता के लिए साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम को समझना होगा। बार-बार "इस्लाम खतरे में है" के नारे से हिन्दू संकीर्णता का जन्म होता है तथा मुसलमानों की भावनाओं पर जोर देने से हिन्दू भावनाओं की दुहाई दी जाने लगती है। तथा जो हिन्दुओं की बात करेगा वह देश में राज करेगा एवं हिन्दू राष्ट्र धोषित करने के नारों से निश्चित ही मुस्लिमों तथा जैन, सिख, बौद्ध में भावनात्मक डर घर कर जाता है। साथ ही गाय को राष्ट्रीय पशु धोषित करने की मांग से भी देश के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप के सामने चुनौती खड़ी हो जाती है। इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का कोई अंत नहीं है। हम सबको और हमारे प्रशासकों को भी यह समझ लेना चाहिए कि हम उस संविधान से बंधे हुए हैं जिसे भारत के लोगों ने बनाया है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत की एकता एवं अखण्डता एवं सुरक्षा के लिए साम्प्रदायिकता एक चुनौती बनी दुई है। वर्तमान समय में भारत में साम्प्रदायिकता को एक ऐसी स्थिति के रूप में चिन्हित किया जा रहा है जो विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच परस्पर संदेह एवं कदुता के कारण हिंसक संघर्षों को जन्म देती है। साम्प्रदायिकता एक संघर्षात्मक परिस्थिति की ओर संकेत करती है। जिसकी उत्पत्ति विभिन्न

* सहा. प्राध्यापक, राजनीतिविज्ञान विभाग, स्वामी विवेकानन्द शासकीय महाविद्यालय (लखनादौन) सिवनी (मध्य प्रदेश) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

समुदायों के पूर्वाग्रहों पक्षपात पूर्ण व्यवहारों और भ्रामक प्रचार के द्वारा होती है। जिसका परिणाम साम्प्रदायिक दंगों, लूटमार तथा हत्याओं के प्रकट होता है। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच पारस्परिक द्वेष, कटुता संदेह इत्यादि इन सम्प्रदायों के लोगों में भेदभाव उत्पन्न करते हैं और थोड़ी सी उत्तेजनात्मक परिस्थितियां और भ्रामक प्रचार इन दोनों समुदायों को हिंसात्मक संघर्षों में उलझा देते हैं।

भारत में साम्प्रदायिकता के कारण

भारत में साम्प्रदायिकता के अनेक कारण दिखाई देते हैं :

1. कूट डालो एवं राज करो की नीति; मध्यकालीन भारत में सांस्कृतिक एकता विद्यमान थी और हिन्दुओं तथा मुसलमानों में विभाजन की प्रकृति दिखाई नहीं देती थी। किन्तु अंग्रेजों के शासनकाल में फूटडालो एवं शासन करो की नीति का उद्भव हुआ और इसी नीति के सहारे इन्होंने एक समुदाय को दूसरे समुदाय के विरुद्ध उत्तेजित करके अपनी साम्राज्यवादी परम्पराओं को मजबूत किया इसी नीति के परिणाम स्वरूप भारत विभाजित होकर दो सम्प्रभुत्व राष्ट्रों भारत एवं पाकिस्तान के रूप में सामने आया जिसका आधार साम्प्रदायिक एवं धार्मिक रहा है।
2. सरकार की उदासीनता; सरकार एवं प्रशासन की उदासीनता के कारण भी कभी साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं प्रशासन की असावधानी के कारण सामान्य घटना भी साम्प्रदायिक रूप ले लेती हैं। शाहबानों के मामले में राजीव गांधी सरकार ने सुप्रीम कोर्ट के फैसले को नहीं माना और साम्प्रदायिक दबाव के चलते मुस्लिम महिला विधेयक पास करवाया अब विश्व हिन्दू परिषद कहती है कि वह भी राम जन्म भूमि के मामले में लखनऊ हाईकोर्ट का फैसला नहीं मानने के लिए कहती है। जबकि यह मामला सुप्रीम कोर्ट में विचाराधीन है।
3. धार्मिक उन्माद फैलाना; धार्मिक उन्माद के माध्यम से सत्ता हासिल करने की कोशिश साम्प्रदायिकता को बढ़ाना देती है। ऐसी कोशिश चाहे किसी भी व्यक्ति, समूह या दल के द्वारा क्यों न होती हो! मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए धर्मगुरुओं तथा धार्मिक भावनाओं का सभी दल इस्तेमाल करते हैं।
4. अशिक्षा एवं अज्ञानता; प्रायः राजनीतिक दलों से जुड़े हुए लोग सत्ता को हासिल करने के लिए साम्प्रदायिकता का सहारा लेते हैं जिसमें ऐसे लोगों को अपने समूह में शामिल करते हैं जो अशिक्षित एवं अज्ञानी होते हैं ताकि वे उनकी बातों में फँसकर साम्प्रदायिक हिंसा को बढ़ावा देने में सहयोग करते रहे एवं अपनी जान की बाजी लगाने के लिए तत्पर रहे।
5. स्वार्थ की राजनीति; अपने हितों के अनुकूल होने पर साम्प्रदायिक हिंसा को बढ़ावा देने में भाजपा एवं कॉग्रेस दोनों ही पार्टियां पीछे नहीं रही हैं। उदाहरण के लिए बाबरी मस्जिद मामले को सोलहवीं शताब्दी की अवधि में शामिल किया गया था कि बाबरी मस्जिद गिर जाए दोनों को इससे अपनी राजनीतिक रोटियां सेकने में मदद मिल रही थी। कॉग्रेस को लग रहा था कि सारा ठीकरा कल्याण सिंह की सरकार पर फोड़कर अपनी राजनीति चमकाई जा सकती है तथा भाजपा को लग रहा था कि उसके हाथ एक उपलब्धि होगी जिससे हिन्दू मत सदा उसके पक्ष में रहेंगे जिससे राम जन्मभूमि को आजाद करने की इच्छा पूर्ण होगी। इसीलिए दोनों में से किसी ने बाबरी मस्जिद को गिरने से रोकने की कोशिश नहीं की। इसमें कॉग्रेस दिखावा कर लेती है धर्म निरपेक्ष होने का तथा भाजपा यह प्रयास करती है कि वह हिन्दू राष्ट्रवादी है। इसीलिए राजनीतिक स्वार्थों के लिए साम्प्रदायिक चालें इनकी कम नहीं होती हैं।
6. राजनीतिक धूर्वीकरण; इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जिन राज्यों में चुनाव होते हैं वहाँ राजनीतिक तबका साम्प्रदायिक सौहार्द को खराब करने की कोशिश करता है। तत्कालिक धूर्वीकरण पैदा कराये जाने के प्रयास होते रहते हैं। ताकि वोट बैंक को अपने पक्ष में खींचा जा सके। उत्तरप्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल पूर्वोत्तर राज्यों में यह अक्सर दिखायी देता है। लव जेहाद, घर वापसी, बीफ आदि मुद्रद चुनाव के दौरान स्थानीय माहौल तो खराब करते ही हैं इससे राष्ट्रवादी माहौल भी बिगड़ता है तथा पूरे समाज में जहर घुलने लगता है।
7. अन्य कारण; पाकिस्तानी दुष्प्रचार, साम्प्रदायिक दलों और व्यक्ति की भूमिका, मुसलमानों का आर्थिक पिछड़ापन, जातिवाद, राजनीतिक भूमि बाबरी मस्जिद विवाद, आई.एस.आई. की घृणित भूमिका, आर.एस.एस. का हिन्दुत्ववादी चेहरा।

साम्प्रदायिकता का प्रभाव

भारत में साम्प्रदायिकता एक धृणित रूप में भरकर सामने आ रही है। जिससे अनेक परिवारों में आपसी सद्भाव के बजाय धार्मिक कट्टरता बढ़ रही है जिससे विरोधी भावनाएं पनपती हैं एवं धृणा की दीवारें बन जाती हैं इससे राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता कमजोर प्रतीत हो रही है। नफरत एवं हिंसा की प्रवृत्ति उभर रही है। साम्प्रदायिकता के परिणाम स्वरूप निर्दोष स्त्री-पुरुष तथा बच्चे हिंसा की बली चढ़ रहे हैं, आगजनी, बलात्कार, लूटमार की घटनाएं दिनों-दिन बढ़ती जा रही हैं।

छोटे-छोटे कारणों से राष्ट्रीय सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाया जाता है। साम्प्रदायिक सोच के कारण ही तथा प्रगतिवादी विचारों का नेतृत्व करने वाले अनेक विद्वानों समाज सुधारकों को असमय मौत के घाट उतार दिया जाता है जैसे एम.एन. कुलवर्गी, नरेन्द्र दाभोलकर, गोविन्द पानसारे तथा दादरी के अखलाक जैसों की हत्या कर दी गई। साम्प्रदायिकता की समस्या चूंकी नई बात नहीं है किन्तु स्वतंत्रता के बाद भारत की एकता, अखण्डता, सुरक्षा के लिए संकट बनी हुई है और उत्तरोत्तर यह समस्या और अधिक गंभीर रूप धारण कर रही है। साम्प्रदायिक सोच से ही हिंसात्मक घटनाएं घटित होती हैं। सन् 1979 में अलीगढ़ में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे, सन् 1980 में दिल्ली में, इलाहाबाद, अलीगढ़, मुरादाबाद मेरठ में हिंसा भड़की बाबरी मस्जिद विवाद 1992, गोधराकाण्ड (2002), अहमदाबाद में अक्षरधाम काण्ड 2013 में उत्तर प्रदेश में मुजफ्फर नगर एवं महाराष्ट्र के धुले में साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाएं घटी। साहरनपुर के नजदीक कोठवाई नगर में सिखों और मुसलमानों के बीच दंगे-शुरू हो गए। इसी प्रकार म.प्र. के सिवनी बरघाट को कर्फ्यू लगाना पड़ा ताकि शान्ति एवं सुरक्षा बनी रहे।⁴

गृह मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 2012-13 के अनुसार; देश में 31 दिसम्बर 2012 तक 668 साम्प्रदायिक घटनाएं घटित हुईं जिसमें 94 लोग मारे गए तथा 3117 लोग घायल हुए इसी प्रकार वर्ष 2011 के दौरान देश में 580 घटनाएं घटित हुईं जिसमें 91 लोग मारे गए तथा 1899 लोग घायल हुए।⁵

तालिका क्रं. 1

क्रं	वर्ष	मारे गए	घायल	घटित घटनाएं
1.	2011	91	1899	580
2.	2012	94	3117	668

गृह मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 2013-14 के अनुसार; वर्ष 2013 के दौरान देश में 823 साम्प्रदायिक घटनाएं हुए जिसमें 123 लोग मारे गए तथा 2269 व्यक्ति घायल हुए थे इसी प्रकार वर्ष 2014 के त्रैमासिक कालावधि में (जनवरी से मार्च 2014) 162 साम्प्रदायिक घटनाएं हुईं इस दौरान 17 लोग मारे गए तथा 490 लोग घायल हुए।

गृह मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 2014-15 के अनुसार; वर्ष 2014 के दौरान देश में 644 घटनाएं हुईं जिसमें 95 लोग मारे गए तथा 1921 लोग घायल हुए इसी दौरान उत्तर प्रदेश के सहारनपुर में 2014 में बड़ी साम्प्रदायिक घटना घटित हुई। साम्प्रदायिकता से उत्पन्न चुनौतियों का सामना करने के लिए निम्न उपाय हो सकते हैं :

1. भारत विभिन्न संस्कृतियों का देश है उन्हें समान रूप से प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि उनके परस्पर सम्पर्क से एक राष्ट्रीय संस्कृति का विकास हो सके।
2. साम्प्रदायिक सद्भाव स्थापित करने वाली समितियों को गठित किया जाना चाहिए जिससे कि संवेदनशील जिलों, तहसीलों, शहरों एवं गावों में शान्ति के लिए प्रयास कर सकें।
3. विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं में धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण विकसित करने के लिए बल देना ताकि समाज में वैमनस्य उत्पन्न करने वालों से उन्हें बचाने में सहायता हो सके।
4. अफवाह फैलाने वालों पर सख्त कार्यवाही करने की आवश्यकता है जिससे समाज एवं देश में झूठी अफवाहें न फैल सकें।
5. सोशल मीडिया पर भी प्रशासन की कड़ी नजर होनी चाहिए ताकि कोई भी व्यक्ति अफवाह की घटनाओं को पोस्ट न कर सके।
6. अस्वैच्छिक धर्मान्तरण पर रोक लगाई जानी चाहिए किन्तु स्वेच्छा से धर्म परिवर्तन पर नहीं।
7. मंदिर, मस्जिद, विहार, गुरुद्वारा के प्रति हमारा सम्मान, आदरभाव होना चाहिए।
8. राष्ट्रीय हितों को स्वार्थता से ऊपर मानने पर ही हम सच्चे भारतीय हो सकते हैं राष्ट्रीय हितों को सर्वोच्च महत्व दिया जाना चाहिए।
9. राजनीतिक ध्रुवीकरण से बचने के प्रयास होने चाहिए ताकि साम्प्रदायिक सौहाद्र बना रहे।

निष्कर्ष

वर्तमान में देश की एकता, अखण्डता और सुरक्षा के समक्ष साम्प्रदायिकता एक गंभीर चुनौती है। इससे नागरिकों में परस्पर द्वेष, कटुता, धृणा, हिंसा व नफरत उत्पन्न होती है। जिससे नागरिकों में एकता सामाजिक समरसता के बजाय सामाजिक विघटन तथा अलगाव उत्पन्न होता है ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिकता के बीजों को उखाड़ फेंकना है। जिससे देश के नागरिकों

में अमन-चैन, एकता, शान्ति, प्रेम व सहिष्णुता का विकास सुनिश्चित किया जा सके। हमें हर हाल में भारत को मातृभूमि मानना होगा। तथा उसके प्रति सम्मान व निष्ठा उत्पन्न करनी होगी। जिससे देश को विकास उत्पन्न करनी होगी। जिससे देश को विकास की दौड़ में अग्रसर करके राष्ट्रनिर्माण कर सकते हैं। यह तभी सम्भव है जब देश में सामाजिक राजनीतिक तथा साम्प्रदायिक सद्भाव कायम रहे देश की एकता अखण्डता एवं सुरक्षा के प्रति सदैव सजग रहकर कार्यों को करते रहना है।

“ये धरती है गौतम बुद्ध, महावीर और कबीर की धरती,/ यार जिसकी पहचान है और धर्म है दोस्ती/ नफरत और गलतफहमी खत्म करने में वक्त नहीं लगता,/ जब हो हमारे दिलों दिमाग में भाईचारा और एकता।”

इस प्रकार साम्प्रदायिक सद्भाव एवं देश प्रेम से ही साम्प्रदायिकता से दूर रहा जा सकता है।

संदर्भ

¹बसु, डी.डी. -भारत का संविधान एक परिचय 2004, वाधवा प्रकाशन नई दिल्ली पृष्ठ संख्या 428

²फड़िया, बी.एल.(2007) -भारतीय शासन एवं राजनीति साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा पृष्ठ संख्या 485

³सिंह, अमिता -सभी लेते हैं साम्प्रदायिक हथकण्डों का सहारा पत्रिका जुलाई 2015 पृष्ठ संख्या 06

⁴अलपाह अनिल -दिलितों और मुसलमानों के बुरे दिन साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण, फारवर्ड प्रेस सितम्बर 2014

⁵गृह मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट

⁶<http://shaishay/wordness.com/2009/10/09>

⁷त्रिपाठी एवं पारिख डी.सी. ममता (2012) -भारतीय शासन एवं राजनीति कालेज बुक डिपो जयपुर

लेखकों के लिए निर्देश

शोधपत्र का अनुरोध

लेखक अपना शोधपत्र डॉ. मनीषा शुक्ला ,प्रधान सम्पादिका आन्वीक्षिकी भारतीय शोध पत्रिका को ई-मेल पर प्रेषित करें।
(maneeshashukla76@rediffmail.com)

प्राप्त शोधपत्र पत्रिका में प्रकाशन के पूर्व पुनर्निरीक्षित किये जायेंगे। स्वीकृत शोधपत्र कहीं और प्रकाशित नहीं होना चाहिए और न ही उस शोधपत्र का कोई भी भाग प्रधान सम्पादिका के अनुमति के बिना कहीं और प्रकाशित किया जा सकता है। कृपया अपने शोधपत्र की पाण्डुलिपि निम्न भागों में तैयार करें, शीर्षक ; सारांश ; पाण्डुलिपि ; पुस्तक संदर्भ सूची। कृपया पुनर्निरीक्षण की गुणवत्ता में सहायता करने हेतु अपना नाम पता पाण्डुलिपि पर न दें।

शीर्षक : शीर्षक पाण्डुलिपि पर अवश्य दें, किन्तु अपना पूरा नाम, पता, संस्था जहाँ पर अध्ययन अथवा अध्यापन कार्य सम्पादित किया गया हो, आपका विषय, दूरभाष अथवा मोबाइल, फैक्स, ई-मेल पत्राचार हेतु अलग पृष्ठ पर अवश्य दें। उपर्युक्त तथ्य आपके शोधपत्र के शब्द सीमा के अन्तर्गत ही माना जायेगा।

सारांश : कृपया शोधपत्र का सारांश 120 शब्दों में दें।

पाण्डुलिपि : इसके अन्तर्गत मुख्य पाठ्य सामग्री होगी ; जो 5 से 10 पृष्ठ तक होनी चाहिये। शोधपत्र 10 पृष्ठ से (सारांश, शब्द संक्षेप, संदर्भ सूची समेत) अधिक प्रकाशन हेतु स्वीकार नहीं किया जायेगा। अन्यथा वृहद् शोधपत्र (10 पृष्ठ से अधिक) प्रकाशन में देर भी हो सकती है। लेखक को यह बात स्वीकार होनी चाहिए कि शोधपत्र पुनर्निरीक्षण के दौरान किये गये संशोधन उन्हें मान्य होंगे। शोधपत्र प्रकाशन के दौरान त्रुटि की सम्भावना न बने इसका पूरा ध्यान रखा जाता है फिर भी कोई त्रुटि पाये जाने पर लेखक संशोधित रीप्रिंट प्राप्त कर सकता है ; पत्रिका में संशोधन की व्यवस्था नहीं है।

संदर्भ वर्णमालाक्रामानुसार : शोधपत्र के समापन पर कृपया संदर्भ वर्णमाला क्रमानुसार दें। पत्रिका का वर्ष, लेखक, पृष्ठ संख्या, भाग इत्यादि विस्तार से दें। पुस्तक शीर्षक या पत्रिका शीर्षक इटालिक दें।

पुस्तक : प्रकाशक का नाम, संस्करण संख्या, प्रकाशन वर्ष, लेखक का नाम, पुस्तक का नाम, पृष्ठ संख्या

पत्रिका : पत्रिका का नाम, लेखक का शीर्षक, लेखक का नाम, प्रकाशक का नाम, अंक संख्या/माह, वार्षिक अथवा अर्द्धवार्षिक अथवा मासिक जो भी हो स्पष्ट करें।

समाचार पत्र : प्रकाशक, तिथि, सन्, पृष्ठ संख्या,

इंटरनेट : वेबसाइट, पृष्ठ संख्या, मुख्य शीर्षक, अन्तः शीर्षक।

मानचित्र एवं सारणी : मानचित्र एवं सारणी अथवा चित्र शोधपत्र की समाप्ति के अन्त में दें। यह ब्लैक एण्ड व्हाइट ही होना चाहिए। इसका स्पष्ट संकेत पाण्डुलिपि में दें (उदाहरण सारणी संख्या 1)

विशेष : कृपया अपना शोधपत्र ई-मेल करने के बाद डॉक से अवश्य भेजें। अपने शोधपत्र के साथ-साथ अपना वायोडाटा, फोटो, स्वपता लिखा लिफाफा (25 रु के टिकट सहित) भेजें। शोधपत्र यदि हिन्दी भाषा में है तो ए.पी.एस प्रियंका रोमन (ए.पी.एस. कार्पोरेट 2000++) में तैयार सी.डी के साथ दें। शोधपत्र प्राप्त होने के एक सप्ताह के अन्दर लेखक को स्वीकृति पत्र प्रेषित कर दिया जायेगा। ई-मेल से प्राप्त शोधपत्र हेतु ई-मेल से स्वीकृति भेजी जायेगी। शोधपत्र प्रेषित करने के पूर्व प्रधान सम्पादिका से दूरभाष पर अवश्य सम्पर्क करें। सम्पादक मण्डल अथवा सलाहकार समिति में सम्मिलित करने का अंतिम निर्णय संस्था का होगा।

सदस्यों से निवेदन है कि वर्ष में 20 सदस्य पत्रिका से जोड़कर संस्था का सहयोग करें।

Other MPASVO Journals

Saarc: International Journal of Research

(Six Monthly Journal)

www.anvikshikijournal.com

Asian Journal of Modern & Ayurvedic Medical Science

(Six Monthly Journal)

www.ajmams.com



www.anvikshikijournal.com

